मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 53 ● वर्ष 6, अंक 10 ● दिसम्बर 2016 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

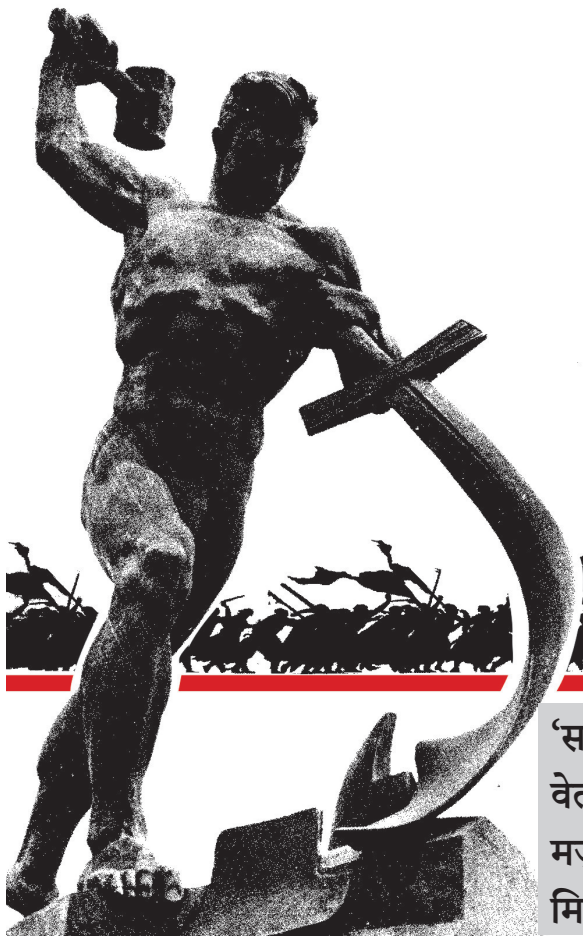

'समान काम के लिए समान वेतन' के फ़ैसले से बहुसंख्यक मज़दूर आबादी को क्या मिलेगा? 3

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के देश के स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान की असलियत 5

मराठा आन्दोलन : जनता के असली दुश्मनों को पहचानो 13

मेहनतकश जन-जीवन पर पूँजी के चतुर्दिक हमलों के बीच गुज़रा एक और साल

मेहनतकशों की जुझारू एकता से ही किया जा सकता है इन हमलों का प्रतिकार

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक का एक और साल समापन की ओर अग्रसर है। इस सदी के तमाम सालों की तरह इस साल भी पूरी दुनिया की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी पर छाया पूँजी का कुहरा छँटने की बजाय और गहरा होता गया। जैसा कि अन्देशा था, इस साल फ़ासीवाद के दानव ने हमारे देश में अपने पैर अभूतपूर्व रूप से पसारे। ढाई साल पहले जनता को लोक-लुभावने वायदों के छलावे में फँसाकर सत्ता में पहुँची मोदी सरकार ने उन वायदों को पूरा करने में अपने फिसड्डीपन को छिपाने के लिए साल की शुरुआत से ही संघ परिवार की गुण्डा वाहिनियों की मदद से पूरे देश में सुनियोजित ढंग से अन्धराष्ट्रवादी उन्माद फैलाया। साथ ही संघ परिवार का फ़ासिस्ट गिरोह इस साल साम्प्रदायिक व जातिगत विद्वेष को बढ़ावा देने की अपनी पुरानी रणनीति को नयी ऊँचाइयों पर ले गया। जब ये कुत्सित रणनीतियाँ भी सरकार के निकम्मेपन को छिपाने में कारगर नहीं साबित हुईं तो साल के अन्त में काले धन पर सर्जिकल स्ट्राइक करने के नाम पर मेहनतकश जन-जीवन पर ही सर्जिकल स्ट्राइक कर डाली जिससे आम लोग अभी तक त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। भारत ही नहीं दुनिया के विभिन्न हिस्सों में धुर-दक्षिणपन्थी व फ़ासिस्ट रुझान वाली ताक़तों ने अपना वीभत्स सिर उठाया और 2007 से जारी विश्व व्यापी मन्दी से निजात न मिलता देख पश्चिम के विकसित मुल्कों में नस्लवाद, रंगभेद, प्रवासी-विरोधी प्रवृत्तियाँ अपने

सम्पादक मण्डल

चरम पर दिखीं। साल के अन्त तक आते-आते विश्व पूँजीवाद के सिरमौर अमेरिका के राष्ट्रपति चुनावों में ट्रम्प जैसे फ़ासिस्ट और लम्पट धनपशु की जीत के बाद अब इस बात में शक की कोई गुंजाइश नहीं बची है कि पूँजीवाद ने आज मनुष्यता को उस अन्धी गली में पहुँचा दिया है जहाँ वह उन्माद, नफ़रत क़िस्म-क़िस्म के प्रतिक्रियावादी विचारों और मूल्यों के अतिरिक्त और कुछ भी देने में नितान्त अक्षम है।

अन्धराष्ट्रवाद और नक़ली देशभक्ति का जुनून

लोगों की ज़िन्दगी में बेहतरी ला पाने में अपनी विफलता को छिपाने के लिए पूँजीपति वर्ग अक्सर ही अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद फैलाता है ताकि लोगों का ध्यान रोज़ी-रोटी के बुनियादी मसलों से हटाया जा सके। मोदी सरकार व संघ परिवार ने यह पूरा साल अन्धराष्ट्रवादी उन्माद फैलाने की नयी-नयी तिकड़मों को आज़माने में बिताया। साल की शुरुआत में दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में कुछ छात्रों द्वारा अफ़ज़ल गुरु की याद में आयोजित किये गये एक कार्यक्रम को बहाना बनाकर संघ परिवार की वानर सेना ने पूरे देश में सुनियोजित ढंग से अन्धराष्ट्रवाद का जुनून फैलाया ताकि आम लोग सरकार की नाकामियों को भूल जायें और उसकी जनविरोधी नीतियों पर कोई सवाल न उठा पायें। सरकार की नीतियों और संघ की ज़हरीली विचारधारा पर सवाल उठाने वाले हर व्यक्ति को देशद्रोही क़रार दिया जाने लगा। यह एक विचित्र विडम्बना है कि देश की आज़ादी की लड़ाई के समय जिस विचारधारा का ग़द्दारी, मुख़बिरी और माफ़ीनामों का शर्मनाक इतिहास रहा उससे जुड़े नफ़रत के सौदागरों ने देशभक्ति का प्रमाणपत्र बाँटने का ठेका अपने हाथ में ले लिया है।

अन्धराष्ट्रवादी जूनून को और हवा देने के मक़सद से मोदी सरकार ने इस साल पाकिस्तान पर तथाकथित सर्जिकल स्ट्राइक करने का स्वांग रचा और सेना की एक सामान्य कार्रवाई को मीडिया के ज़रिये बढ़ा-चढ़ाकर बताकर अपनी वाहवाही लूटने का हास्यास्पद प्रयास किया। कश्मीर में

(पेज 8 पर जारी)

नोटबन्दी

जनता की गाढ़ी कमाई से सरमायेदारों की तिजोरियाँ भरने का बन्दोबस्त

8 नवम्बर को भारत सरकार ने 500 और 1000 हज़ार रुपये के चालू नोट प्रचलन से हटा लिये और उनकी जगह 500 और 2000 के नये नोट चालू करने का ऐलान किया जो 10 नवम्बर से चलन में आये। सरकार द्वारा शुरू में इस फ़ैसले के मक़सद बताये गये थे - काले धन पर हमला, भ्रष्टाचार को रोकना और नक़ली नोटों का चलन रोककर इन्हें इस्तेमाल करने वाले आतंकवादियों की कमर तोड़ना। लेकिन जब इन उद्देश्यों के पूरा होने पर सवाल उठने लगे तो अब सरकार के सुर बदल गये हैं, अब सरकार इन सबकी बात को पीछे कर कैशलेस लेनदेन की व्यवस्था चालू करने पर मुख्य ज़ोर दे रही है। सरकार ने यह भी नहीं बताया है कि अगर इन नोटों की वजह से ही देश में काला धन, भ्रष्टाचार और अपराध-आतंकवाद होता है तो फिर इनको स्थाई रूप से ख़त्म करने के बजाय वापस चालू करने का क्या मतलब है? और दो हज़ार का और भी बड़ा नोट ले आने से क्या और ज़्यादा काला धन पैदा नहीं होगा?

मुकेश त्यागी

करेंसी नोटों को बन्द करने के इस फ़ैसले से होने वाली तबाही और मौतों की ख़बरें पूरे देश भर से आ रही हैं। एक ऐसे देश में जहाँ कुल लेनदेन का 98 फ़ीसदी नक़दी के ज़रिये किया जाता है, कुल करेंसी में से 86.4 फ़ीसदी मूल्य के नोटों को अचानक बन्द करने से भारी अफ़रा-तफ़री पैदा होना लाज़िमी था। अभी तक 100 से ज़्यादा मौतों की ख़बरें आ चुकी हैं। पूरी की पूरी असंगठित अर्थव्यवस्था ठप पड़ी हुई है, जो भारत की कुल कार्यशक्ति के 93 फ़ीसदी रोज़गार देती है और सकल घरेलू उत्पाद का 45 फ़ीसदी हिस्सा भी है। पहले से बदहाली झेल रही शहरी-ग्रामीण जनता इस बात से भी डरी हुई है कि उसके बचाये हुए पैसे रद्दी काग़ज़ में तब्दील हो रहे हैं। बैंकों के बाहर अपनी ख़ून-पसीने की कमाई को पकड़े हुए लोगों की लम्बी क़तारें पूरे देश भर में देखी जा सकती हैं। इन क़तारों में लगे लोग अपना काम-धन्धा या मज़दूरी छोड़कर आते हैं और दिनोंदिन ख़ाली हाथ लौट जाने को मजबूर हैं। अपने पैसे ही न निकाल पाना और ऊपर से अपनी दैनिक कमाई से भी वंचित होना आम लोगों के लिए दोहरी तक़लीफ़ का सबब बना हुआ है।

फिर इस नोटबन्दी का क्या मतलब है? इसके लिए समझना होगा कि जहाँ तक बड़े सम्पत्तिशाली और संगठित कारोबारी तबक़े का सवाल है पूँजीवादी व्यवस्था में धन-सम्पदा नोटों के रूप में नहीं बल्कि ज़मीन-मकान, जंगल,

(पेज 9 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

16 दिसम्बर की बर्बर घटना के पाँच साल बाद

बलात्कार पीड़ितों को इंसाफ के झूठे वादे

दिसम्बर 2013 में हुए बहुचर्चित दिल्ली बलात्कार काण्ड के बाद बहुत शोर-शराबे के साथ सरकारों ने दावे किए थे कि बलात्कार पीड़ित स्त्रियों को जल्द इंसाफ़ दिलाने के लिए व स्त्रियों के ख़िलाफ़ अपराधों को लगाम कसने के लिए तुरन्त पुख्ता क़दम उठाए जाएँगे। जल्द इंसाफ तो क्या मिलना था लेकिन जल्द ही केन्द्र व राज्य सरकारों का, अदालतों, पुलिस-प्रशासन का स्त्री विरोधी चरित्र और भी सामने आ गया है। न तो स्त्रियों के साथ बलात्कार, छेड़छाड़, अपहरण, तेजाब फेंकने, व अन्य धक्केशाहियों में कमी आई है, न ही इस सम्बन्धी पुलिस-प्रशासनिक ढाँचे को दरुस्त किया गया है। कहा गया था कि बलात्कार के हर मामले की फास्ट ट्रेक अदालतों में सुनवाई होगी। कुछ मामलों को छोड़कर बाकी केसों में पीड़ित अदालतों की सालों-साल खाक छानने को मज़बूर हैं।

राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में रोजाना लगभग बलात्कार के 100 केस दर्ज होते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं है कि बलात्कार पीड़ितों की वास्तविक संख्या इससे कहीं अधिक होगी। अपराधियों द्वारा डराये-धमकाने, बदनामी, पुलिस द्वारा केस दर्ज न करने या टालमटोल, इंसाफ की नाउम्मीद आदि अनेकों कारणों से बहुसंख्यक पीड़ितों द्वारा तो केस दर्ज ही नहीं हो पाते। दर्ज केसों में सिर्फ़ चौथा हिस्सा केसों में ही सज़ा सुनाई जाती है। इन मामलों में भी बड़ी बहुसंख्यक मामलों में लम्बे इन्तज़ार के बाद ही सज़ा सुनाई जाती है। इसके बाद ऊपर की अदालतों में फिर से सालों-साल केस लटकता रहता है। देरी से मिला इंसाफ भी वास्तव में बेइंसाफी ही होता है।

फास्ट ट्रेक केस चलाने के वादों की सरेआम धज्जियाँ उड़ाई गयी हैं। यहाँ तक कि जिन मामलों की समाज में बड़े स्तर पर चर्चा भी होती है उन मामलों में भी फास्ट ट्रेक केस नहीं चलाए जाते। सन् 2014 की आखिरी तिमाही में लुधियाना में घटित शहनाज़, अगवा, बलात्कार व कत्ल काण्ड इसकी बड़ी उदाहरण है। लुधियाना के ढण्डारी इलाके में 17 वर्ष की शहनाज को अक्टूबर महीने में इलाके के एक गुण्डा गिरोह ने अगवा करके सामूहिक बलात्कार किया था। गुण्डा गिरोह द्वारा डराने-धमकाने, मामला दर्ज करने में पुलिस की टालमटोल, दर-दर की ठोकरें खाने के बावजूद शहनाज और उसके परिजनों ने एफ.आई.आर. दर्ज करवाई। गुण्डा गिरोह कुछ दिनों के लिए जेल में रहने का बाद जमानत पर रिहा हो गया। चार दिसम्बर को घर में घुस करके मिट्टी का तेल डालकर शहनाज को जिन्दा जला दिया गया। चार दिन बाद उसकी मौत हो गयी। मौत से पहले उसने पुलिस व मेजिस्ट्रेट के सामने ब्यान दर्ज करवाए जिसमें उसने सात व्यक्तियों के नाम लिए। कारखाना मज़दूर यूनियन के नेतृत्व में बनी ढण्डारी बलात्कार व कत्ल काण्ड विरोधी संघर्ष कमेटी के नेतृत्व में हज़ारों लोगों के संघर्ष के दबाव में पुलिस ने सारे दोषी (सात) गिरफ्तार कर लिए। पहले तो चालान पेश करने में देरी की गयी, झूठी कहानियाँ गढ़ी गयीं (प्रेम कहानी और परिजनों द्वारा इज़्ज़त के नाम कत्ल) लेकिन जनसंघर्ष के दबाव में ये साजिशें फेल हो गयीं। लेकिन चालान पेश करने में ही तीन महीने का समय लगा दिया गया है। पुलिस-प्रशासन ने वादा किया था कि केस फास्ट ट्रेक कोर्ट में चलाया जायेगा। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। दो साल होने वाले हैं लेकिन अब तक इस केस का निपटारा नहीं हो पाया है।

जल्द इंसाफ मिलने की सम्भावनाएँ यहाँ बहुत कम हैं। सारी सरकारी व्यवस्था स्त्री विरोधी सोच से ग्रस्त है। जब कोई स्त्री हिम्मत करके पुलिस के पास शिकायत लेकर जाती है तो सबसे पहले उसे ही गुनाहगार ठहराने की कोशिश की जाती है। पुलिस की पूरी कोशिश रहती है कि मामला दर्ज न हो। कोशिश की जाती है कि घूस लेकर मामला रफा-दफा कर दिया जाये। अगर रपट दर्ज भी होती है तो देरी कार कारण मेडीकल करवाने पर बलात्कार साबित करना मुश्किल हो जाता है। अस्पताल के डॉक्टर गवाहियाँ दे के बचने के लिए मामले को रफा-दफा करने या खुद को मामले से दूर रखने के लिए तिकड़मबाजियाँ भिड़ाने लगते हैं। अदालतों में भी स्त्री विरोधी सोच हावी है। पीड़ित स्त्रियों को ही किसी न किसी रूप से गल्त समझा जाता है। वैसे तो जजों और अन्य मुलाजिमों की कमी के कारण अदालतों में अधिकतर मामले लम्बे समय तक लटके रहते हैं लेकिन स्त्री विरोधी अपराधों के मामलों में अदालती व्यवस्था में स्त्रियों के प्रति असंवेदनशीलता हावी होने के कारण भी इंसाफ या तो मिल ही नहीं पाता या देरी से मिलता है।

स्त्रियों के ख़िलाफ़ अपराधों की कमी और इंसाफ़ के लिए सरकारी व्यवस्था में चुस्ती-दरुस्ती पर ही भरोसा नहीं रखा जा सकता। बेशक इसके लिए सरकारी व्यवस्था में चुस्ती-दुरुस्ती आनी चाहिए लेकिन ऐसा भी एक हद तक तब ही हो सकता है जब समाज में स्त्रियों के अधिकारों का एक बड़ा आन्दोलन मौजूद हो। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी मुख्य होगी। स्त्रियों की व्यापक भागीदारी वाले इस आन्दोलन के बिना उनके विरुध अपराधों में कमी नहीं आ सकती और न ही अपराधियों को जल्द सज़ाएँ करवाई जा सकती हैं। स्त्री के ख़िलाफ़ अपराधों में कमी के लिए ज़रूरी है कि समाज में स्त्रियों के प्रति संवेदनशीलता का प्रसार हो। ऐसा भी स्त्रियों के व्यापक आन्दोलन के बिना नहीं हो सकता।

— रणबीर

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:
डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**
ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीआर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul
खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ
बिगुल की सदस्यता का भुगतान ऑनलाइन करने के लिए बिगुल की वेबसाइट mazdoorbigul.net पर जायें।
सदस्यता: वार्षिक: 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:
फ़ोन: 0522-2786782, 8853093555, 9936650658
ईमेल: bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - रु. 5/- वार्षिक - रु. 70/- (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - रु. 2000/-

सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 'समान काम के लिए समान वेतन' का फ़ैसला लेकिन देश की बहुसंख्यक मज़दूर आबादी को इससे हासिल होगा क्या?

— शिवानी

हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये एक फ़ैसले की काफ़ी चर्चा रही। 26 अक्तूबर को 'पंजाब राज्य बनाम जगजीत सिंह (2016)' मामले में अपना फ़ैसला सुनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय की एक खण्डपीठ ने कहा कि 'समान काम के लिए समान वेतन' का सिद्धान्त पंजाब सरकार के लिए काम करनेवाले अस्थायी कर्मचारियों पर भी लागू होगा। जिसका अर्थ यह है कि पंजाब सरकार द्वारा नियुक्त किये गये हज़ारों अस्थायी कर्मचारी जैसे कि दिहाड़ी मज़दूर, एड हॉक, कैजुअल और कॉण्ट्रैक्ट कर्मचारी, यदि वे स्थायी/नियमित कर्मचारियों के समान काम कर रहे हैं तो वे सब स्थायी कर्मचारियों को मिलनेवाले वेतनमान के ही हक़दार होंगे।

ग़ौरतलब है कि इस तरह के मसले पर यह कोई इकलौता फ़ैसला नहीं है। इससे पहले भी कई राज्यों के उच्च न्यायालयों और ख़ुद सर्वोच्च न्यायालय ने 'समान काम के लिए समान वेतन' के संवैधानिक सिद्धान्त को लागू किये जाने की बात कही है। हालाँकि इस बार यह फ़ैसला ऐसे वक़्त में आया है जब केन्द्र में बैठी भाजपा सरकार श्रम के अस्थायीकरण और अनौपचारिकता की प्रक्रिया को नयी ऊँचाइयों तक ले जाने के लिए प्रतिबद्ध है! मोदी सरकार ने सत्तासीन होते ही इस बाबत अपनी मंशा ज़ाहिर भी कर दी। हर क़िस्म के श्रम क़ानून को लचीला बनाकर ख़त्म कर देने की क़वायद ज़ोरों से जारी है। मज़दूर-कर्मचारियों को बचे-खुचे क़ानूनी प्रावधानों के तहत मिलनेवाली सहूलियतों को पूँजीपतियों और कॉरपोरेट घरानों के हाथ बेचने के लिए इस पूँजी-भक्त सरकार ने कमर कस ली है। यह बात दीगर है कि पहले ही ये श्रम क़ानून वास्तविकता में कितने लागू होते थे! हालाँकि अब इस क़ानूनी जामे की औपचारिकता को भी उतार फ़ेंक देने की फ़ासीवादी मुहिम चल रही है।

उक्त जगजीत सिंह का मामला सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष पंजाब एवं हरियाणा उच्च न्यायालय के कई अन्तरविरोधी निर्णयों के बाद एक अपील के रूप में आया। पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय के अधीन इन सभी मामलों में जो सामान्य मुद्दा था वह यह था कि क्या अस्थायी/अनियमित तौर पर काम कर रहे कर्मचारी जिनमें दिहाड़ी मज़दूर, एड हॉक कर्मचारी, कैजुअल कर्मचारी, ठेके पर काम कर रहे कर्मचारी, और वे सभी कर्मचारी जो नियमित या पूर्णकालिक आधार पर काम नहीं कर रहे हैं, शामिल हैं, नियमित/स्थायी पदों पर काम कर रहे कर्मचारियों को मिलनेवाले वेतन के हक़दार हैं या नहीं? जहाँ 2003 में 'पंजाब राज्य बनाम राजिन्दर कुमार' मामले में पंजाब-हरियाणा उच्च-न्यायालय की एक पीठ ने इस मुद्दे पर सकारात्मक रवैया अपनाया; वहीं 2013 में 'अवतार सिंह बनाम पंजाब राज्य' मामले में उक्त उच्च न्यायालय की पूर्ण पीठ ने 2003 के फ़ैसले को पलटते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि अस्थायी/ अनियमित कर्मचारी स्थायी/ नियमित कर्मचारियों के समान वेतन के हक़दार नहीं हो सकते हैं। सुप्रीम कोर्ट का हालिया फ़ैसला इसी सन्दर्भ में आया है।

अपने इस फ़ैसले में उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि एक ''कल्याणकारी राज्य'' अपने द्वारा नियुक्त किये गये कर्मचारियों में वेतन के आधार पर भेदभाव नहीं कर सकता है। ऐसा करना ''दमनकारी और उत्पीड़नकारी'' होगा। कम से कम सरकार को तो अपने कर्मचारियों के साथ एक आदर्श नियोक्ता के तौर पर बर्ताव करना चाहिए! आज का भारतीय राज्य कितना ''कल्याणकारी'' है, इस पर चर्चा करना ही बेमानी है। पूँजीवाद के इस नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में, जब आर्थिक संकट पूँजीवाद की ढाँचागत विशिष्टता बन चुका है, तब भारत तो क्या दुनिया का कोई देश, ''कल्याणकारी राज्य'' होने का जोखिम या ख़र्च नहीं उठा सकता है। और फिर तो यह दूसरी ही चर्चा का विषय है कि पूँजीवाद के ''कल्याणकारी राज्य'' के दौर में भी राज्य कितना और किसके लिए कल्याणकारी था! इसलिए सर्वोच्च न्यायालय का यह कथन एक ऐसे भ्रम को बनाये रखना चाह रहा है जिसका आज के पूँजीवाद में कोई भौतिक आधार मौजूद है ही नहीं।

यहाँ एक और बात ध्यान देने लायक है। सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले समेत ऐसे सभी फ़ैसले ज़्यादातर उन मामलों में आये हैं जिन्हें क़ानूनी भाषा में 'सेवा क़ानून' (सर्विस लॉ) की संज्ञा प्राप्त है। यानी ये सभी मामले केन्द्र या राज्य सरकारों के प्रत्यक्ष कर्मचारियों से जुड़े मामले हैं।

बहरहाल इस फ़ैसले के बाद केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के लीडरान में ख़ुशी की लहर सी दौड़ गयी। किसी ने इसे अभूतपूर्व फ़ैसला बताया तो किसी ने इसे केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के नेतृत्व में चल रहे ''भारत के मज़दूर आन्दोलन'' की अहम जीत बताया। इन सभी ने भारतीय न्यायिक व्यवस्था और संविधान में अपनी दृढ़ आस्था को एक दफ़ा फिर जताते हुए सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले की भूरि-भूरि सराहना की। यह तक कह डाला कि यह ''ऐतिहासिक फ़ैसला'' भारत में ठेकाकरण और ''कैजुअलाइजेशन'' की समस्या के समाधान में एक महत्वपूर्ण क़दम है! जबकि सच्चाई तो यह है कि सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले का श्रम के ठेकाकरण के प्रश्न से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है।

यह बात सच है कि इस फ़ैसले से केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा अपने विभागों में प्रत्यक्ष तौर पर नियुक्त किये गये अस्थायी/अनियमित कर्मचारियों को कुछ राहत मिलेगी। वे सभी इस फ़ैसले का इस्तेमाल एक मिसाल या पूर्वनिर्णय के तौर पर स्थायी/नियमित कर्मचारियों जितना ही वेतन पाने के लिए एक हद तक कर पायेंगे। लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह फ़ैसला सिर्फ़ सरकारी कर्मचारियों पर लागू होगा जो कि भारत की कुल मज़दूर आबादी का बेहद छोटा सा हिस्सा है। निजी क्षेत्र और सरकार द्वारा नियन्त्रित सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के अनौपचारिक/असंगठित मज़दूरों की स्थिति पर इस फ़ैसले से कोई असर नहीं पड़ेगा क्योंकि यह फ़ैसला उनके लिए है ही नहीं।

आज भारत की कुल मज़दूर आबादी का 93 प्रतिशत से अधिक असंगठित क्षेत्र में काम करता है, बाक़ी 7 प्रतिशत आबादी जो संगठित/ औपचारिक क्षेत्र में काम करती है, उसका भी तीन-चौथाई हिस्सा ठेका या कैजुअल मज़दूर है या अगर वह स्थायी है भी तो किसी यूनियन में संगठित नहीं है। आज श्रम के अनौपचारिकीकरण की प्रवृत्ति ही मुख्य प्रवृत्ति है। अर्थव्यवस्था में एक विशालकाय अनौपचारिक क्षेत्र पैदा हुआ है। विशाल संख्या में ऐसी औद्योगिक इकाइयाँ अस्तित्व में आयी हैं जो किसी भी प्रकार के क़ानून या सरकार द्वारा लागू किसी भी विनियमन के अन्तर्गत नहीं आतीं। इनमें घरों में उपठेकाकरण के तहत होनेवाले काम से लेकर हैण्डीक्राफ़्ट उद्योग, वर्कशॉप, छोटे-मोटे कारख़ाने तक शामिल हैं। इनमें काम करनेवाली श्रमिक आबादी का 98 प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जिसके पास निश्चित मज़दूरी वाला पक्का नियमित रोज़गार नहीं है और किसी भी प्रकार की क़ानूनी सुरक्षा उन्हें हासिल नहीं है। इसके अलावा, संगठित और असंगठित दोनों ही क्षेत्रों में कार्यशक्ति का अभूतपूर्व अनौपचारिकीकरण हुआ है। यानी कि जो मज़दूर आबादी संगठित क्षेत्र में पक्के रोज़गार और नियमित पक्के वेतन के साथ काम कर रही थी, उसके आकार को भी ठेकाकरण-उपठेकाकरण और छँटनी के ज़रिये तेज़ी से छोटा किया जा रहा है। 2011-12 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के मुताबिक़ 79 प्रतिशत मज़दूरों के पास काम का कोई लिखित समझौता या क़रार नहीं होता। वैसे यह आँकड़ा इससे कहीं और बड़ा हो सकता है।

इस रूप में देखें तो अनौपचारिक/ असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली 98 प्रतिशत आबादी अनौपचारिक मज़दूर के रूप में काम करती है जिसके पास कोई रोज़गार सुरक्षा, सामाजिक सुरक्षा, श्रम क़ानूनों को संरक्षण, काम करने की अच्छी स्थितियाँ, न्यूनतम मज़दूरी, 8 घण्टे का कार्यदिवस, पेंशन, ई.एस.आई., पी.एफ़. आदि की सुविधा नहीं है। इसके साथ ही औपचारिक/ संगठित क्षेत्र में भी काम करने वाली मज़दूर आबादी का तीन-चौथाई से भी अधिक हिस्सा अनौपचारिक मज़दूर में तब्दील हो चुका है जिसका कारण है पिछले तीन दशक से जारी ठेकाकरण, कैजुअलाइजेशन और दिहाड़ीकरण की प्रक्रिया। इस बहुसंख्यक मज़दूर आबादी की स्थिति क्या है, यह किसी से छिपा नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय से भी नहीं। यदि मैन्युफ़ैक्चरिंग उद्योग को देखें तो दिल्ली में वज़ीरपुर, बवाना, बादली, शाहबाद डेरी से लेकर मायापुरी-नारायणा, ओखला, पीरागढ़ी, मंगोलपुरी में 12-14 घण्टे खटने वाली मज़दूर आबादी की स्थिति इस तस्वीर को साफ़ कर देती है। और दिल्ली ही क्यों, देश भर में लुधियाना-पानीपत से लेकर गुड़गाँव-मानेसर और बंगलूर-चेन्नयी तक फैले किसी औद्योगिक क्षेत्र पर निगाह डालिए, सभी जगह हालात एक ही हैं - श्रम का अभूतपूर्व अनौपचारिकीकरण-दिहाड़ी और ठेके पर काम कर रही असंगठित मज़दूरों की सबसे अरक्षित आबादी का लहलहाता महासमुद्र। सर्वोच्च न्यायालय के इस फ़ैसले में इनके लिए कुछ भी नहीं है। इसके अलावा कृषि से जुड़े क्षेत्रों में लगी मज़दूर आबादी, निर्माण मज़दूर, घरेलू कामगार आदि असंगठित मज़दूरों की श्रेणी में आते हैं। ये मज़दूर आबादी भी इस फ़ैसले से कोई उम्मीद नहीं रख सकती। यहाँ एक बात फिर रेखांकित करने की ज़रूरत है कि देश की तमाम बड़ी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की इस असंगठित/ अनौपचारिक मज़दूर आबादी के बीच कोई आधार या पहुँच-पकड़ नहीं है और न ही इन यूनियनों द्वारा इस असंगठित आबादी को संगठित करने का ही कोई इरादा मौजूद है। इसलिए, इस फ़ैसले के बाद उनके बीच व्याप्त हर्षोल्लास की स्थिति को सहज ही समझा जा सकता है!

अब अगर सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की बात करें, तो स्थितियाँ वहाँ भी इससे कुछ अलग नहीं हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों को भी अस्थायी/ अनियमित तौर पर ही नियुक्त किया जा रहा है। अनौपचारिकीकरण का पहलू यहाँ भी प्रधान है। यह असंगठित मज़दूर आबादी भी किसी ट्रेड यूनियन की सदस्यता के दायरे में नहीं आती। जैसे, दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन को ही लीजिए। यह दिल्ली सरकार और केन्द्र सरकार का संयुक्त उपक्रम है। इसमें टिकट-टोकन देने वाला स्टाफ़, सफ़ाई कर्मचारी व सिक्योरिटी गार्ड - सभी अस्थायी मज़दूर हैं जो विभिन्न ठेका कम्पनियों द्वारा काम पर रखे जाते हैं। हालाँकि डी.एम.आर.सी. (दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन) इन सभी ठेका मज़दूरों की प्रधान नियोक्ता है, लेकिन वह हमेशा इस ज़िम्मेदारी से बचती है। ऐसे में इन ठेकाकर्मियों के लिए और इन्हीं जैसे लाखों अन्य ठेकाकर्मियों के लिए इस फ़ैसले में ऐसा कुछ नहीं है जिससे वे थोड़ी भी राहत की साँस ले सकें।

यहाँ सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष आये दो मामलों का उल्लेख विचारणीय है। पहला मामला सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम से जुड़े मज़दूरों का है। 1966 में 'हिन्दुस्तान एण्टीबायोटिक लिमिटेड बनाम कामगार (1967)' मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने ही फ़ैसला दिया था कि 'समान काम के लिए समान वेतन' का सिद्धान्त उन कामगारों पर लागू नहीं होगा जो राज्य सरकार के अन्तर्गत प्रत्यक्ष तौर पर काम नहीं करते। इस फ़ैसले में न्यायालय ने यह भी कहा कि न तो क़ानूनन और न ही संवैधानिक तौर पर यह बाध्यताकारी है कि 'सार्वजनिक क्षेत्र' और 'निजी क्षेत्र' में कार्यरत कर्मचारियों का वेतनमान बराबर हो सिर्फ़ इसलिए कि वे समान काम कर रहे हैं। चूँकि उनके नियोक्ता अलग-अलग हैं, इसलिए वेतनमान भी अलग-अलग हो सकता है। अब यदि देश का सर्वोच्च न्यायालय ही ऐसा तर्क देगा तो इस पर और क्या कहा जाये।

एक अन्य महत्वपूर्ण मामले में भी सर्वोच्च न्यायालय ने 'समान काम के लिए समान वेतन' के सिद्धान्त को नज़रअन्दाज़ किया है। 2007 में 'कर्नाटक राज्य बनाम अमीरबी' मामले में फ़ैसला सुनाते हुए कोर्ट ने आँगनवाड़ी में काम करनेवाली महिलाओं को राज्य सरकार के कर्मचारी होने का दर्जा और इसके परिणामस्वरूप मिलनेवाली सुविधाएँ देने से साफ़ इन्कार कर दिया। इस फ़ैसले में समेकित बाल विकास योजना के तहत काम करनेवाली इन आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के काम की प्रकृति को स्वैच्छिक बताया गया जिन्हें वेतन की जगह मानदेय मिलता है। और इसलिए ये सब सरकार की नियमित कर्मचारी नहीं बन सकतीं। इस फ़ैसले के पीछे काम करनेवाला तर्क यह है कि ये स्त्री कामगार महज़ ''नागरिक पद'' पर कार्यरत हैं क्योंकि अदालत के अनुसार तो बच्चों के पालन-पोषण का काम रोज़गार होता ही नहीं। और वैसे भी यह काम सिर्फ़ महिलाओं द्वारा ही किया जा रहा है इसलिए पुरुषों द्वारा किये जानेवाले पूर्णकालिक नियमित रोज़गार से इसकी तुलना नहीं की जा सकती! स्त्रियों के काम के प्रति यह नज़रिया कितना भ्रामक और गहराई से जड़ें जमाये हुए है, यह इस फ़ैसले से साफ़ हो जाता है।

अगर ग़ौर से देखें तो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिया गया यह हालिया फ़ैसला वास्तव में इस देश की बहुसंख्यक मज़दूर आबादी को कुछ भी राहत नहीं देता। इस फ़ैसले में देश की आम मज़दूर आबादी जो अस्थायीकरण और अनौपचारिकीकरण का शिकार है, के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है जिस पर सन्तोष किया जा सके – उल्टे, इस आबादी की कार्य-स्थितियों पर एक परेशान कर देनेवाली चुप्पी है। ●

भाजपा के सत्ता में आने के बाद से अल्पसंख्यकों व दलितों के ख़िलाफ़ अपराधों की रफ़्तार हुई तेज़

भारत में धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि के नाम पर विभिन्न हुक्मरान वर्गीय पार्टियाँ अपनी राजनीतिक रोटियाँ सेकती आयी हैं। भाजपा भी मौक़ा मिलते ही देश में लगातार फासीवादी माहौल को अच्छा खाद-पानी दे रही है। मोदी 2014 के चुनावों में देश के अच्छे दिन लेकर आने के नारों की गूँज के साथ देश के बहुपक्षीय विकास का ऐलान करता पूरे देश में छाया रहा था। क्या भाजपा के चुनाव जीतने से देश की साधारण जनता की बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद की जा सकती है? इसका जवाब बिना संकोच के न में दिया जा सकता है। भाजपा किस मक़सद के लिए सत्ता पर विराजमान हुई है यह इसका कार्यकाल ख़त्म होने से पहले ही घोषित किया जा सकता है। मोदी सरकार देश के पूँजीपतियों के संकट की घड़ी में उसका हाथ बँटाने के लिए ही आयी थी और इसके लिए ही अपनी पूरी ताक़त लगा रही है।

भाजपा ने अपने घोषणापत्र में अल्पसंख्यकों (मुस्लिम और ईसाई) और दलितों के लिए आर्थिक और सामाजिक बराबरी के मौक़े, रोज़गार, सामाजिक एकता और न्याय की गारण्टी, अछूत जैसी पिछड़ी मूल्य-मान्यताओं का ख़ात्मा करने, शान्तिपूर्ण और सुरक्षा का माहौल उपलब्ध करवाने का एजेण्डा घोषित करके बेवजह ही कई काग़ज़ काले किये, क्योंकि पिछले दो वर्षों के दौरान मोदी को अभी तक इन मामलों पर सोचने-विचारने का समय नहीं मिल सका और पूरी उम्मीद है कि आने वाले दिनों में भी मोदी पूँजीपतियों की सेवा में ही व्यस्त रहेंगे।

हम रोज़ देखते हैं कि आये दिन अल्पसंख्यकों और दलितों के साथ भेदभाव की कोई न कोई घटना हमारे सामने होती है। 21वीं सदी में भारत में अभी भी दलितों को अछूत या अपवित्र आदि कहकर नकार दिया जाता है और समाज का हिस्सा नहीं माना जाता। अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ तमाम तरह के झूठ प्रचारकर लगातार ज़हर घोला जाता रहा है। यह भेदभाव इतना भयंकर है कि जाति या धर्म के नाम पर तो आपके जीने का अधिकार भी छीना जा सकता है। हाल ही की एक घटना में उत्तराखण्ड के एक गाँव पिथौरागढ़ में आटा चक्की ''अपवित्र'' करने के कारण एक उच्च जाति के अध्यापक ने हँसिया से दलित का गला काट दिया। पिछले समय में देखें तो संघ के गौ-भक्तों ने भी कई बेगुनाह मुसलमानों और दलितों को मौत के घाट उतारा है। हाल ही में गुजरात के ऊना ज़िले में दलितों के साथ हुई घटना को कौन भुला सकता है?

कुछ और तथ्यों पर नज़र डालते हैं। लोक सभा में पेश की गयी गृह मन्त्रालय की रिपोर्ट के मुताबिक़ 2016 के पहले पाँच महीनों में ही 278 साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाएँ हो चुकी हैं। इन घटनाओं में 903 लोग ज़ख्मी हुए और 38 लोगों की मौत हुई। उत्तर प्रदेश राज्य साम्प्रदायिक हिंसा की 61 घटनाओं के साथ सबसे आगे रहा है। 2014 में यह आँकड़ा 644 था जो 2015 में 17% बढ़कर 741 हो गया था। दलितों की हालत देखें तो राष्ट्रीय अनुसूचित और जनजाति आयोग की रिपोर्ट के मुताबिक़ गुजरात राज्य में दलितों के ख़िलाफ़ अपराध 2014 में 27.7% से 2015 में 163.3%, और छत्तीसगढ़ राज्य में 2014 में 32.6% से 2015 में 91.9% बढ़े हैं। गुजरात, छत्तीसगढ़ और राजस्थान तीनों राज्य जहाँ भाजपा की सरकार है दलित के ख़िलाफ़ अपराधों में सबसे आगे हैं।

ये तथ्य दर्शाते हैं कि भाजपा के आने से फासीवादी तत्वों और दलित के ख़िलाफ़ अपराधियों को छूट मिली हुई है। आरएसएस की विचारधारा में दलितों, अल्पसंख्यकों, स्त्रियों के विरुद्ध नफ़रत फैलाना शामिल है। मोदी जो कि 2002 में ख़ुद फासीवादी हिंसा में मुसलमानों के क़त्लेआम में शामिल रहा था, से और उम्मीद भी क्या की जा सकती है? इसलिए, आज ज़रूरत है कि जितने भी उत्पीड़ित वर्ग चाहे वे अल्पसंख्यक,दलित या स्त्रियाँ हों उन्हें समूची जनता के अंग के तौर पर अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सुरक्षा के लिए, भारत की समूची मेहनतकश जनता की पूँजीपतियों के ख़िलाफ़ वर्गीय लड़ाई को मज़बूत बनाते हुए अपने उत्पीड़न का डटकर विरोध करना पड़ेगा।

– बिन्नी

भारत में बढ़ रही बेरोज़गारी

पिछले दिनों 'लेबर ब्यूरो' द्वारा जारी नयी रोज़गार-बेरोज़गारी सर्वेक्षण रिपोर्ट के मुताबिक़ बेरोज़गारी पिछले 5 वर्षों के शिखर पर है। बेरोज़गारी की दर 2011 में 3.8 फ़ीसदी, 2013 में 4.9 फ़ीसदी और 2015-16 में बढ़ कर 7.3 फ़ीसदी पर पहुँच गयी है। रोज़गार-प्राप्त व्यक्तियों में से भी एक-तिहाई को पूरे वर्ष काम नहीं मिलता, जबकि कुल परिवारों में से 68 फ़ीसदी परिवारों की आमदनी 10,000 रुपये महीने से भी कम है। ग्रामीण क्षेत्रों में हालत और भी ख़राब है। यहाँ 42 फ़ीसदी व्यक्तियों को वर्ष के पूरे 12 महीने काम नहीं मिलता। ग्रामीण क्षेत्र में 77 फ़ीसदी परिवार 10,000 मासिक से कम कमाने वाले हैं।

ये हैं वे असल कुरूप सच्चाइयाँ जिन्हें छिपाने के लिए ही मोदी मण्डली तमाम तरह के फ़ालतू मुद्दे उभार रही है। एक तरफ़ तो विकास की 7-8 फ़ीसदी की रफ़्तार को छूने के दावे किये जा रहे हैं लेकिन दूसरी तरफ़ बेरोज़गारों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। ज़ाहिरा तौर पर इस विकास का फ़ायदा सिर्फ़ ऊपर बैठे अमीर वर्गों को ही हुआ है। आम घरों के नौजवान तो अब भी दो वक़्त की रोटी जुटाने के लिए भटक रहे हैं। इसलिए आज हमें समझना होगा कि भारत-पाकिस्तान के बीच तनाव और देशभक्ति के नाम पर अन्धराष्ट्रवाद को उभारने के पीछे भारत और पाकिस्तान के हुक्मरानों की क्या साज़िश है। आज हमारे वास्तविक मसले अपने घर में ही हैं और ज़रूरत है कि हम बेहतर शिक्षा और रोज़गार देने के लिए अपनी सरकारों से ज़ोरदार माँग करें और जनान्दोलन को इस मक़सद के लिए संगठित करें।

– सिकन्दर

अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प की जीत का मतलब क्या है?

(पेज 8 से आगे)

देश जहाँ लम्बे समय से कोई सशक्त मज़दूर आदोलन मौजूद नहीं है, जहाँ का ट्रेड-यूनियन आन्दोलन लम्बे समय से नस्लवाद से ग्रस्त रहा है और जहाँ आम आबादी के बीच वर्ग-चेतना का भारी अभाव है, जहाँ उपभोक्तावाद की संस्कृति अपने चरम पर हो, स्त्रियों और बच्चों के प्रति अपराध एक आम बात हो, उस देश के टुटपुँजिया वर्ग का नायक और तारणहार ट्रम्प जैसा ही कोई व्यक्ति हो सकता था। लेकिन क्या इसका मतलब ट्रम्प एक फासीवादी है और उसका सत्ता में आना अमेरिकी राज्य को एक फासीवादी शासन में तब्दील कर देता है? हिलेरी क्लिण्टन और बर्नी साण्डर्स की हार पर रुदाली और स्यापा करने वाले 'भद्रजनों' के एक बड़े तबके से लेकर वाम दायरे के कुछ धड़ों में भी ट्रम्प को फासीवादी साबित करने का प्रयास किया जा रहा है। दूसरे क्या आम मेहनतकश जनता को यह जानने से कोई फर्क पड़ता है कि ट्रम्प फासीवादी है या नहीं? या यह सिर्फ़ एक किताबी सवाल है?

हम इस सवाल से अपनी बात शुरू करेंगे कि हमारे लिए क्यों यह जानना बेहद ज़रूरी है कि ट्रम्प एक फासीवादी है या फिर वैश्विक आर्थिक संकट के दौर में अमेरिका की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में पैदा हुआ एक धुर प्रतिक्रियावादी दक्षिणपंथी? यह इसलिए ज़रूरी है कि सिर्फ किताबी लोग सड़कों पर उतरकर फासीवाद का मुकाबला नहीं करते बल्कि अपने वास्तविक नेताओं और संगठनों के मार्गदर्शन में यह काम आम मेहनतकश जनता करती है। अगर हर प्रतिक्रियावादी शक्ति को हम फासीवादी करार दे देंगे तो जब वाकई फासीवादी सत्ता में आयेंगे तो हम बगलें झाँक रहे होंगे। जो रोज़ भेड़िया आया, भेड़िया आया करता है; वह सच में भेड़िये के आ जाने पर कुछ नहीं कर पाता! फासीवाद के विरुद्ध जनता के संघर्ष की रणनीति अलग होती है व आम प्रतिक्रियावादी काल में अलग।

आखिर हम ट्रम्प को फासीवादी क्यों नहीं मान सकते? पूँजीवाद के वैश्विक आर्थिक संकट के जिस दौर में आज हम जी रहे हैं, उसमें उदारवादी और कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य के लिए सम्भावनाएँ ख़त्म हो चुकी हैं। यही कारण है कि आज दुनिया भर में प्रतिक्रियावादी सत्ताएँ क़ायम हो रही हैं जो जनता को ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़कर, उसके हर विरोध को कुचलकर वित्तीय और इजारेदारी पूँजी के हितों की रक्षा कर सकें। लेकिन ऐसी हर प्रतिक्रियावादी ताक़त फासीवादी नहीं हो सकती, क्योंकि फासीवाद एक आधुनिक विचारधारा है जो मुख्यतः वित्तीय और इजारेदार पूँजी की सेवा करती है और टुटपुँजिया वर्गों के समर्थन के दम पर सत्ता में काबिज़ होती है। फासीवाद को तीन प्रमुख चीज़ों के आधार पर ही पहचाना जा सकता है—कैडर आधारित संगठन, फासीवादी विचारधारा और टुटपुँजिया वर्गों के समर्थन की लहर पर उभरा व्यापक सामाजिक आधार वाला आन्दोलन। एक कैडर आधारित संगठन एक सुनिश्चित फासीवादी विचारधारा (जो मूलतः व्यवहारवादी होती है) के आधार पर ही खड़ा किया जा सकता है। इसी संगठन के बलबूते पूँजीवादी संकट के काल में टुटपुँजिया वर्गों के बीच जीवन की बदहाली से उद्धार के लिए 'पहले वाली महानता' का स्वप्न दिया जाता है और उन्हें विश्वास दिलाया जाता है कि "मज़बूत नेता" के रूप में उनका तारणहार इसे लाकर देगा। इन वर्गों को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उन्हें सत्ता के प्रति बिलकुल वफ़ादार होना होगा और इस तारणहार का विरोध करने वाले हर किसी का सफाया करना होगा; चाहे वो ट्रेड-यूनियन संगठन हो, कम्युनिस्ट कार्यकर्ता हो या मानवाधिकार कर्मी हो। अपनी वर्गीय महत्वाकांक्षाओं और संकुचित दृष्टि के चलते टुटपुँजिया वर्गों की एक बड़ी आबादी और यहाँ तक कि हताशा से ग्रस्त मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को भी कुछ समय के लिए स्वर्ग की प्राप्ति की उम्मीद होने लगती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस भरोसे का आगे चलकर क्या हश्र होता है!!

अगर इस विश्लेषण के आधार पर ट्रम्प के सत्ता तक पहुँचने की प्रक्रिया को देखें और सवाल करें कि क्या वह वाकई किसी कैडर आधारित संगठन व फासीवादी विचारधारा से टुटपुँजिया वर्गों के बीच से उभरे हुए आन्दोलन के बलबूते सत्ता तक पहुँचा है तो इसका जवाब होगा नहीं। इसका मतलब यह कत्तई नहीं कि फासीवादी चुनाव के रास्ते से सत्ता तक नहीं पहुँचते। हिटलर से लेकर मोदी तक चुनाव जीत कर ही सत्ता तक पहुँचे, लेकिन चुनावों के पहले लम्बे समय तक उनके फासीवादी संगठन ने टुटपुँजिया वर्गों और मज़दूर वर्ग के कुलीन तबकों के अच्छे-खासे हिस्से में काम करते हुए फासीवादी लहर पैदा की थी। इसके उलट, अमेरिका में ट्रम्प के पीछे कोई सामाजिक आन्दोलन नहीं है। ट्रम्प नस्ली या जातीय आधार पर व्यापक दंगा या कत्लेआम कराकर विरोधियों का सफाया करना तो दूर चुनावों से पहले कहे गये अपने बेहद मूर्खतापूर्ण लेकिन जनता के बीच लोकप्रिय हुए जुमलों के एक हिस्से को भी लागू करवाने में मुश्किल का सामना करेगा। मसलन क्या वह प्रवासियों, विशेषकर लातिनी-अमेरिकी प्रवासियों के अमेरिका में प्रवेश पर पूरी रोक लगा सकता है? कत्तई नहीं, क्योंकि इन प्रवासियों के सस्ते श्रम की लूट, अमेरिकी पूँजीपतियों की ज़रूरत है। इसी तर्ज़ पर क्या वह विदेशों में शिफ्ट हुए अमेरिकी कम्पनियों के उत्पादन को वापस अपने देश में ला सकता है, जिससे बेरोज़गारी से ग्रस्त अमेरिकी श्वेत आबादी के लिए नये रोज़गार पैदा हो सकें? यह हो ही नहीं सकता, वित्तीय पूँजी के वर्चस्व के इस दौर में मुनाफ़े की दर जहाँ ज़्यादा से ज़्यादा होगी (और यह वहीं होगा जहाँ लूटने के लिए सस्ते से सस्ता श्रम होगा), उत्पादन के केन्द्र वहीं स्थापित किये जायेंगे। यहाँ तक कि आतंकवाद के विरुद्ध लड़ाई के नाम पर ट्रम्प ने जिस किस्म के मुस्लिम विरोध की बात की है वह भी महज़ एक जुमला ही साबित होगी। ज़ाहिरा तौर पर कोई फासीवादी शासक भी अपने सभी जुमलों को लागू नहीं करवा पाता लेकिन वह जनता को लम्बे समय तक छलावे में रख पाता है क्योंकि समाज में उसकी पहुँच ज़्यादा गहरी होती है। ट्रम्प के लिए ऐसा करना भी मुमकिन नहीं होगा।

कुल मिलाकर देखा जाये तो ट्रम्प का उभार अमेरिकी सत्ता के फासीवादी हो जाने का प्रतीक नहीं है, लेकिन साथ ही यह भविष्य में ऐसी किसी सम्भावना के पैदा होने के ख़तरों के लिए भी आगाह करता है। यह सही है कि वैश्विक आर्थिक संकट का यह दौर आज जगह-जगह पर बुर्जुआ वर्ग की धुर प्रतिक्रियावादी पार्टियों और शासकों के सत्तासीन होने के लिए उपजाऊ ज़मीन प्रदान कर रहा है, लेकिन साथ ही यही संकट एक क्रान्तिकारी विकल्प के निर्माण और जनता के बीच उसका आधार बनाने के लिए भी ज़मीन उपलब्ध करा रहा है। अगर मज़दूर वर्ग और उसके हिरावल ने समय की इस आहट को अनसुना किया, अगर उन्होंने इस त्रासदी के लिए ज़िम्मेदार मरणासन्न और मानवद्रोही बन चुकी पूँजीवादी व्यवस्था का जनता के बीच पर्दाफाश नहीं किया तो हम यह ज़मीन फासीवादियों को उपहारस्वरूप भेट कर देंगे। आज मज़दूर वर्ग और उसके हिरावल को आम जनता और विशेषकर मज़दूर वर्ग और टुटपुँजिया वर्ग से आने वाले नौजवानों को उनकी दुःख-तकलीफो के लिए वास्तव में ज़िम्मेदार इस मौजूदा आर्थिक-सामाजिक ताने-बाने की असलियत उजागर करनी होगी और भविष्य का ठोस विकल्प उनके सामने प्रस्तुत करना होगा।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के देश के स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान की असलियत

— नारायण आनन्द खराडे

आजकल सभी देशवासियों को देशप्रेम का अर्थ समझाने की ज़िम्मेदारी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ व उसके अनुषंगी संगठनों ने अपने सिर पर ले रखी है। यही कारण है कि भारत माता, हिन्दू राष्ट्र, सनातन धर्म, प्राचीन संस्कृति जैसी संघ की पसन्दीदा अवधारणाओं ने अब अंगारे से जंगल की आग का रूप ले लिया है। संघ की इन अवधारणाओं का विरोध करने या संघ पर किसी भी प्रकार की टिप्पणी करने वालों को संघ देशद्रोही ठहरा रहा है। यह सच है कि देशभक्ति व देशद्रोह का प्रमाणपत्र बाँटने का हक़ संघ को किसी ने नहीं दिया है पर फिर भी संघ के बोलने को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसका कारण है कि संघ 90 वर्षों के इतिहास वाला, देशभर में 51335 शाखाओं वाला व लगभग 60 लाख स्वयंसेवकों वाला संगठन है। इतना ही नहीं बल्कि पिछले 5 वर्षों में संघ की दैनिक शाखाओं में 29 प्रतिशत, साप्ताहिक शाखाओं में 61 प्रतिशत व मासिक शाखाओं में 40 प्रतिशत की बढ़ोतरी भी हुई है। इसके साथ ही वर्तमान प्रधानमन्त्री भी संघ के सच्चे स्वयंसेवक हैं व उन्हें ख़ुद इसका अभिमान भी है। इसलिए देशभक्ति के बारे में संघ के विचारों को अनदेखा करने का साहस सम्भव नहीं है। उल्टा संघ की देशभक्ति व देशप्रेम पर सांगोपांग चर्चा करना आज समाज के लिए पहले से कहीं ज़्यादा ज़रूरी बन गया है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना 1925 में नागपुर में हुई। तब से 15 अगस्त 1947 तक यानी 22 सालों तक भारत पर अंग्रेज़ों का राज्य था। इस काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जैसे बड़े संगठन से लेकर देश के अलग-अलग भागों में सक्रिय अनेक छोटे संगठन अंग्रेज़ों से देश को स्वतन्त्र कराने के लिए अपने-अपने तरीक़ों से प्रयास कर रहे थे। ऐसे समय में संघ क्या कर रहा था? ये समझना संघ की देशभक्ति को समझने के लिए सबसे उपयुक्त रहेगा। संक्षेप में कहना हो तो, एक संगठन के रूप में संघ ने अंग्रेज़ों के विरूद्ध कुछ भी नहीं किया। उल्टा उस समय देश के लिए दिल में कुछ करने का जज़्बा लिए स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी करने वाले लोगों को ऐसा करने से हतोत्साहित करना व देश के लिए बलिदान करने वाले देशभक्तों के त्याग का अपमान संघ ने सुनियोजित तरीक़े से अनथक किया। आज संघ देशभक्ति की कितनी ही बातें कर ले पर उनका ये काला इतिहास उनकी ख़ुद की पुस्तकों में दर्ज हो चुका है। बेशक अपनी इस मक्कार भूमिका के लिए संघ ने कभी शर्म महसूस नहीं की, ये भी सत्य है। देश के स्वतन्त्र होने के बाद स्वतन्त्रता आन्दोलन से दूर रहने के संघ के कृत्य का समर्थन संघ के दूसरे सरसंघचालक माधव सदाशिव गोलवलकर (गुरुजी) ने निम्न शब्दों में किया - "1942 के समय भी अनेक लोगों के मन में आन्दोलन के विचार थे। पर तब भी संघ के नियमित कार्यक्रम चलते रहे। संघ ने सीधे तौर पर कुछ भी न करने का संकल्प लिया था फिर भी संघ के स्वयंसेवकों के मन में खलबली मची थी। संघ सिर्फ़ निठल्ले लोगों का संगठन है, उनके बोलने का कोई अर्थ नहीं है, ऐसा सिर्फ़ बाहर के लोग ही नहीं बल्कि संघ के स्वयंसेवक भी बोलने लग गये थे व नाराज़ हो गये थे। इसके बावजुद संघ ने अपनी अवस्थिती छोड़ी नहीं।"[1] संघ के परमपूज्य गोलवलकर गुरुजी के ये शब्द संघ की देशभक्ति का सबूत है।

स्वतन्त्रता संग्राम व संघ की चर्चा करते हुए एक सावधानी बरतनी पड़ेगी। संगठन व एक व्यक्ति के रूप में स्वयंसेवक के बारे में अलग-अलग विचार करना भी ज़रूरी है। किसी भी संगठन का अपने सदस्यों पर पूरा नियन्त्रण नहीं हो सकता है। संगठन में अलग-अलग मुद्दों पर मतभेद व विरोधी अवस्थितियों का निर्माण होता है। आज्ञापालन के लिए प्रसिद्ध संघ भी इसका अपवाद नहीं है। ऐसे समय में क्या भूमिका ली जायेगी, इसका निर्णय किसी संगठन के सिद्धान्त व लक्षय से तय होता है। जनवादी मूल्यों व तार्किकता में भरोसा करने वाला संगठन मतदान, बहस, तर्क आदि के द्वारा अपना पक्ष तय करता है। पर संघ में ऐसे "फ़ालतु" मूल्यों की जगह नहीं है। संघ एक झण्डा, एक नेता, एक विचारधारा, इस सिद्धान्त से अपनी अवस्थिती बताता है। मतभेद रखने वालों व ख़ुद तर्क करने की इच्छा पालने वालों को दूर होना पड़ता है। संघ सच्चे अर्थों में समाज के एक छोटे से वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। यही कारण है कि व्यापक जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए असली उद्देश्यों को छुपाकर संघ के उद्देश्यों के बारे में एक भ्रामक तस्वीर प्रचारित करना संघ की ज़रूरत है। इसके लिए संघ ने जो सबसे प्रभावी शस्त्र तैयार किया है वो है संघ की भावनाओं को सहारा देती अलंकारिक भाषा। भोले भाले लोगों को संघ से जोड़ने का काम इस मायावी अस्त्र ने साल-दर-साल प्रभावी तरीक़े से किया है। इसी कारण सामान्य स्वयंसेवक व संघ के नेतृत्व के बीच समय-समय पर टकराव पैदा होता है। यूँ तो तमाम अन्य संगठनों में भी इस तरह का टकराव पैदा होता है। स्वतन्त्रता संग्राम के बारे में संघ की अवस्थिति पर भी ऐसे ही टकराव पैदा होने के अनेक उदाहरण हैं। इसलिए जहाँ भी संघ के स्वयंसेवक के व्यक्तिगत तौर पर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी करने के उदाहरण मिलते हैं उस वक़्त संघ की सांगठनिक अवस्थिति क्या थी, इसकी पड़ताल करना ज़रूरी है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक और पहले सरसंघचालक डा. केशव बळिराम हेडगेवार ने अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से की थी। 1920 में असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन पर केस दर्ज हुआ व एक साल के सश्रम कारावास की सज़ा मिली। सत्याग्राहियों का मानना था कि साम्राज्यवादी सत्ता का विरोध करना केवल अधिकार ही नहीं बल्कि एक कर्तव्य है इसलिए उन्होंने ये प्रतिज्ञा ली थी कि वो अपना बचाव नहीं करेंगे। पर डॉ. हेडगेवार ने अपना बचाव किया। "अपना बचाव न कर खटमल की तरह कुचला जाना मुझे गवारा नहीं है। अपना पक्ष रखकर हमें दुश्मन की कुचेष्टाओं को दुनिया के सामने लाना चाहिए"[2], यही देशसेवा है, यह तर्क उन्होंने अपने समर्थन में दिया। देशसेवा करते हुए जेल तो क्या, काला पानी जाना पड़े या फाँसी पर भी चढ़ना पड़े, तो हमें तैयार रहना चाहिए, ऐसी हुंकार भी उन्होंने भरी। पर सज़ा पूरी कर लौटने के बाद उन्होंने इस बात की पूरी सावधानी बरती कि उन्हें काला पानी या फाँसी न हो। वो कांग्रेस से दूर हो गये क्योंकि उन्हें ये मंजूर नहीं था कि ये देश यहाँ रहने वाले सभी जाति-धर्म के लोगों का है। डॉ. हेडगेवार की जीवनी लिखने वाले ना. ह. पालकर के अनुसार "हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी लोगों का ये देश है, इस धारणा पर से उनका विश्वास पूरी तरह उठ चुका था। उनके मन में ये स्पष्ट विश्वास घर कर गया था कि हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयता है।" इसीलिए उन्होंने 1925 में संघ की स्थापना की। इस संगठन के द्वारा नौजवानों को साम्राज्यवाद विरोध की बजाय मुसलमान विरोध करने व कट्टर हिन्दुत्ववाद की तरफ़ लाने के लिए उन्होंने अपना पूरा जीवन समर्पित कर दिया। स्वतन्त्रता संग्राम में शामिल होने को उत्साही नौजवानों को हेडगेवार क्या बोलते थे, ये उनकी उपरोक्त जीवनी में दिये वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। इस जीवनी के लेखक ना. ह. पालकर ख़ुद हेडगेवार के साथी व एक संघ प्रचारक थे। इसके साथ ही इस जीवनी की प्रस्तावना संघ के दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर गुरुजी ने लिखी है। इसलिए ये आरोप भी नहीं लगाया जा सकता है कि संघ के विरोधी कुत्साप्रचार कर रहे हैं। पालकर लिखते हैं - "अगर नौजवान के मन में सत्याग्रह में भाग लेने की इच्छा जगती थी तो डॉक्टर उससे सवाल करते थे - सत्याग्रह के बाद जेल जाना पड़ेगा, तैयारी है क्या? हाँ, नौजवान का दृढ़ उत्तर होता था। कितने दिन का संकल्प करके निकले हो? नौजवान की तरफ़ से छह महीने जैसा कुछ उत्तर आता। उसके बाद डॉक्टर बोलते, अगर छह महीने की जगह दो साल की सज़ा हो गयी तो? इस सवाल का नौजवान तुरन्त जवाब देता कि वो भी काट लेंगे। इतनी तत्परता दिखाने पर डॉक्टर उससे बोलते, आपको सज़ा हो गयी है, ऐसा समझकर ये समय संघ कार्यालय को क्यों नहीं देते?" मतलब स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेना संघ का काम नहीं था। हेडगेवार के ऐसे उपदेशों को हमेशा कामयाबी नहीं मिलती थी। कुछ लोग अपने विचार बदल लेते थे पर बहुत सारे सत्याग्रह में भाग लेते थे। उनके बारे में डॉ. हेडगेवार के क्या विचार थे, इसका उत्तर भी पालकर ने दिया है। "हमने देश के लिए कुछ किया है, इसका प्रदर्शन जनता के सामने करने की इच्छा रखने वाले नौजवान अधिक देखकर उन्हें (डॉ. हेडगेवार को) दुख होता था." [3]

नमक सत्याग्रह शुरू होते ही संघ पर भी इस आन्दोलन में भागीदारी करने का दबाव बनना स्वाभाविक था। ऐसे समय में पत्र जारी कर डॉ. हेडगेवार ने संघ की अवस्थिति निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट की। "जारी आन्दोलन में संघ ने एक संगठन के तौर पर भागीदारी करना अभी तय नहीं किया है। व्यक्तिगत तौर पर अगर कोई भागीदारी करना चाहता है तो अपने संघचालक की अनुमति से शामिल हो सकता है। उसे वहाँ भी इस तरीक़े से काम करना चाहिए कि उससे संघ का हितसाधन हो।"[2] संघ की मक्कार भूमिका का ये उत्तम उदाहरण है। स्वतन्त्रता आन्दोलन का खुला विरोध करना संघ के लिए राजनीतिक रूप से आत्मघाती होता, इसलिए संघ ने ऐसा तो नहीं किया पर स्वयंसेवकों को आज़ादी की लड़ाई से दूर रखने का काम उसने पूरी चालाकी व ताक़त से किया।

राष्ट्रगौरव की डींगें हाँकने व स्वतन्त्रता आन्दोलन से दूर फटकने की नीतियों के कारण संघ पूरी तरह नंगा हो रहा था। स्वयंसेवकों के व्यक्तिगत तौर पर भाग लेने के बावजुद संघ की एक संगठन के रूप में स्वतन्त्रता संग्राम विरोधी अवस्थिति क़दम-क़दम पर दिख रही थी। इसलिए संघ की आलोचना भी हो रही थी। ऐसे समय में संघ द्वारा दिखायी गयी अव्वल दर्जे की निर्लज्जता भागानगर सत्याग्रह व उसमें संघ की भूमिका के बारे में डॉ. हेडगेवार के स्पष्टीकरण में साफ़ दिख रही थी। अख़बारों के माध्यम से संघ की आलोचना करने वालों में एक श्री गो. गो. अधिकारी थे। वैसे तो संघ ऐसी आलोचनाओं का कोई जवाब न देने का धूर्त तरीक़ा अपनाता था पर उस समय परिस्थितियों के नाज़ुक होने के कारण हेडगेवार को उत्तर देना पड़ा। इस जवाब में हेडगेवार बोलते हैं - "नित्य कार्य व नैमित्तिक (यदाकदा) कार्य के बीच का अन्तर अगर उन्होंने (श्री गो. गो. अधिकारी) अपने विवेक से समझा होता तो वो संघ के विरूद्ध ज़हर नहीं छोड़ते। ऐसा लगता है कि श्री अधिकारी भूल गये हैं कि भागानगर सत्याग्रह ख़त्म होने के बाद भी राष्ट्रमुक्ति का काम बचा रहेगा। राष्ट्र को मुक्त कराने के लिए किये जाने वाले आख़िरी प्रहार का समय आने से पहले की तैयारी राष्ट्रमुक्ति का नित्य कार्य है व भागानगर आन्दोलन जैसे आन्दोलन राष्ट्रमुक्ति के नैमित्तिक कार्य हैं। हमारी सारी ताक़त व विशेषज्ञता नित्य संस्था के नैमित्तिक कार्यों में इस तरह नहीं बहायी जा सकती कि उससे नित्य कार्यों में व्यवधान उत्पन्न हो।"[2] ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करना संघ की नज़र में ऐसा ही एक तुच्छ नैमित्तिक कार्य था। ऐसे नैमित्तिक कार्य में अपनी ताक़त ख़र्च करने के लिए संघ तैयार नहीं था। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी के प्रति संघ की अनिच्छा कितनी दृढ़ थी, इसका एक दूसरा सबूत 'क्रान्तदर्शी डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार' नामक पुस्तक में मिलता है। इस पुस्तक के लेखक डॉ. हेडगेवार के कामों की महानता का बखान करते हुए लिखते हैं - "जिस समय स्वतन्त्रता के लिए चल रहे विभिन्न आन्दोलनों के अतिरिक्त भी छोटे-मोटे सामाजिक कार्य हाथ में लेकर विभिन्न संस्थाएँ काम कर रही थी उस समय भी डॉक्टरजी ने ऐसा कोई भी अभीष्ट कार्य आँखों के सामने न रख परिस्थिति निरपेक्ष देशव्यापी संगठन खड़ा करने का बुनियादी काम हाथ में लिया। डॉक्टर कहते थे - 'संघ को केवल हिन्दू संगठन ही अपना लक्षय रखना चाहिए'। संघ केवल संगठित करेगा व इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करेगा।"[2] संघ असलियत में क्या कर रहा था? इस संगठन का उद्देश्य क्या था? स्वतन्त्रता आन्दोलन व अन्य सामाजिक कार्यों को जिन नित्य कार्यों से प्रेम के कारण संघ वर्जित मानता था, वो नित्य कार्य असल में क्या थे व उनका उद्देश्य क्या था? वास्तव में, क्या संघ कोई भी नैमित्तिक कार्य नहीं कर रहा था? इन सवालों के जवाब के लिए डॉ. हेडगेवार की जीवनी में नागपुर दंगा प्रकरण पढ़ने योग्य है। हिन्दू धर्मनिष्ठ स्वयंसेवकों ने इन दंगों में मुस्लिमों को कैसे मारा, मस्जिद कैसे जलायी, इन पराक्रमों का वर्णन लेखक ने गर्व के साथ किया है। संघ के नित्य कार्यों का स्वरूप व संगठन का उद्देश्य वहाँ स्पष्ट हो जाता है।

संघ का हथियार प्रेम सर्वज्ञात है। हथियारों का उत्पादन, भण्डारण व प्रशिक्षण इसको संघ की स्थापना से ही महत्व दिया जाता रहा है। संघ के स्वयंसेवकों को विभिन्न हथियारों का प्रशिक्षण दिया जाता है। ये हथियार कभी अंग्रेज़ों के विरूद्ध इस्तेमाल हुए क्या? नागपुर दंगों में स्वयंसेवकों ने दूर से ही जलते बाणों की वर्षा कर मस्जिद जलायी.[3] धनुर्विद्या में इतनी पारंगता स्वयंसेवकों को मिली थी पर अंग्रेज़ों की कचहरी या पुलिस स्टेशन की दिशा में कभी एक भी जलता बाण इन रामसेवकों के धनुष से छूटा नहीं। इस हथियार भण्डार का एक बड़ा हिस्सा डॉ. हेडगेवार ने क्यों नष्ट किया, इसकी कहानी भी संघ की अंग्रेज़ परस्ती और कायरता पर अच्छे-से प्रकाश डालती है। संघ के पहले सरकार्यवाह बालाजी हुद्दार को जनवरी 1931 में बालाघाट सरकारी हथियार लूट में पकड़ा गया। (यही बालाजी हुद्दार बाद में स्पेन के गृहयुद्ध में लड़े व वहाँ से वापस आने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया के सदस्य बने) बेशक इस लूट को संघ ने अंजाम नहीं दिया था। ये घटना डॉ. हेडगेवार के लिए बड़ा आघात थी। ना.ह. पालकर के शब्दों में - "सरसंघचालक के बाद संगठन में जिसका स्थान है, उस पर इस तरह के आरोप लगने का मतलब अंग्रेज़ों की आँख में चुभ रहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर आपदा थी। इसीलिए हेडगेवार ने हथियारों को 1931 में नष्ट करवा

(पेज 6 पर जारी)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का देश के स्वतन्त्रता संग्राम में योगदान

(पेज 5 से आगे)

दिया।"[3] संघ अंग्रेज़ों की आँख में चुभ रहा था, ऐसा यहाँ ना. ह. पालकर बोलते हैं। इसमें कितनी सच्चाई है? ये सच है कि कुछ स्वंयसेवकों के व्यक्तिगत स्तर पर सत्याग्रह में भाग लेने व पूरे देश में स्वतन्त्रता आन्दोलन के उफान पर होने के कारण संघ पर अंग्रेज़ों की नज़र थी। ऐसे समय में डॉ. हेडगेवार ने स्वयंसेवकों के मन में ये बिठाने व अंग्रेज़ों को इसका आश्वासन देने का सतत व ज़ोरदार प्रयास किया कि अंग्रेज़ों का विरोध हमारा लक्षय नहीं है। यही कारण था कि संघ पर प्रतिबन्ध लगाने की ज़रूरत अंग्रेज़ों को कभी महसूस नहीं हुई। मुसलमानों को देश का दुश्मन बताकर उनके विरूद्ध तो हथियार इस्तेमाल किये जायें पर स्वयंसेवक अंग्रेज़ों के विरूद्ध हथियार इस्तेमाल कर ग़ैरज़रूरी आफ़त मोल न लें, इस बारे में डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार कितने सावधान थे, ये हुद्दार के उदाहरण से दिख जाता है। 'गेहूँ के साथ घुन्न भी पिसता है' कहावत को चरितार्थ करते हुए जब किसी भी प्रकार की ब्रिटिश-विरोधी गतिविधि में शामिल न होने के बावजुद संघ पर प्रतिबन्ध लगाया गया, तब भी डॉ. हेडगेवार को पूरा विश्वास था कि संघ पर प्रतिबन्ध नहीं लगेगा। यह विश्वास यूँ ही नहीं था। अंग्रेज़ों ने संघ का स्वरूप पूरी तरह पहचान लिया था। इसीलिए संघ की स्वामीभक्ति पर अंग्रेज़ों को पूरा विश्वास था। संघ के बारे में अंग्रेज़ों के दस्तावेज़ों में आगे की जानकारी मिलती है। उन दस्तावेज़ों में लिखा है कि भविष्य में संघ भारत में वही भूमिका अदा करेगा जो जर्मनी में नाजी कर रहे हैं व इटली में फासीवादी।

देश की रक्षा से एलर्जी संघ की पहली प्रार्थना से भी प्रतिबिम्बित होती है। संघ की पहली प्रार्थना में एक मराठी व एक हिन्दी श्लोक था। इसमें से हिन्दी का श्लोक आर्यसमाज की एक प्रार्थना में कुछ बदलाव कर लिया गया था। आर्यसमाज की मूल प्रार्थना थी :

हे प्रभो, आनन्ददाता ग्यान हमको दीजिये

शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिये

लीजिये हमको शरण में हम सदाचारी बने

ब्रह्मचारी देशरक्षक वीर व्रतधारी बने

इसमें बदलाव कर संघ ने नीचे दी गयी प्रार्थना स्वीकार की।

हे गुरो, श्रीरामदूता शील हमको दीजिये

शीघ्र सारे सद्गुणों से पूर्ण हिन्दू कीजिये

लीजिये हमको शरण में रामपन्थी हम बने

ब्रह्मचारी धर्मरक्षक वीरव्रतधारी बने...[3]

इसमें किया गया बदलाव देखने योग्य है। पूर्ण हिन्दू बनाने की राम से की गयी प्रार्थना, रामपन्थी बनने की इच्छा तो है ही, पर देशरक्षक होने के बारे में संघ की विरक्ति इतनी ज़्यादा थी व धर्म के सामने देश का स्थान इतना दोयम था कि मूल प्रार्थना की अन्तिम लाइन में से देशरक्षक शब्द निकालकर धर्मरक्षक शब्द डालना संघ का नेतृत्व भूला नहीं।

स्वतन्त्रता की लड़ाई में योगदान देने वाले सभी देशभक्तों से आज संघ अपना सम्बन्ध जोड़ रहा है। झूठा इतिहास फैलाया जा रहा है। देश के लिए लड़ते-लड़ते अपनी जान न्यौछावर करने वाले देशभक्तों के बारे में संघ द्वारा अपने लेखन व व्याख्यानों से व्यक्त किया गया मत संघ की स्वतन्त्रता आन्दोलन में भागीदारी की भूमिका से एकदम सुसम्बन्ध है। स्वयंसेवकों का मार्गदर्शन करते हुए दूसरे सरसंघचालक गोलवलकर गुरुजी बोलते हैं - "अंग्रेज़ों के प्रति गुस्से के कारण बहुतों ने अद्भुत साहस दिखाया है। हम भी वैसा ही करें, ये विचार हमारे मन में भी कभी आ सकता है। पर एक व्यक्ति को यह भी सोचना चाहिए कि क्या ऐसा करने से देशहित पूरे हो रहे हैं? बलिदान से उस विचारधारा को बढ़ावा नहीं मिलता जिससे समाज अपना सबकुछ राष्ट्र के नाम क़ुर्बान करने के बारे में प्रेरित होता है। अब तक के अनुभव से तो यह कहा जा सकता है कि दिल में इस तरह की आग लेकर जीना एक आम आदमी के लिए असह्य है।"[1] देशभक्तों का रास्ता सामान्य जनता को असह्य लगता है, सिर्फ़ इतना ही संघ का आरोप नहीं था, बल्कि इन देशभक्तों का अधिक से अधिक अपमान करना संघ ने अपना कर्तव्य समझा था, ऐसा उनके विचारों से दिखता है। "डॉ हेडगेवार क्रान्तदर्शी युगपुरुष" नामक पुस्तक के लेखक वि.ना. नेने हेडगेवार का देशभक्तों के बारे में मत स्पष्ट करते हुए लिखते हैं - "ब्रिटिश-विरोधी भावना ही उस आन्दोलन की मुख्य प्रेरणा थी। राष्ट्र की स्वतन्त्रता के बारे में, स्वराज्य के बारे में रचनात्मक दृष्टि या धारणा वहाँ कहीं नहीं मिलती। ... सत्याग्रह करने वाले बहुत लोगों को छोटी-मोटी सजाएँ होती थीं। इस तरह सत्याग्रह कर जेल जाकर आये लोगों को ऐसा लगता था कि हमने देशभक्ति का एक विशेष कार्य किया है। हम लोग अन्य लोगों से श्रेष्ठ हैं, अगुवा हैं, दूसरों को हमारी जयजयकार करनी चाहिए, अनुयायी होकर हमारी गिरती बात को भी झेलें, ऐसी भावना उनमें बल मारने लगी। देशभक्ति का एक ऐसा निराला वर्ग तैयार होने लगा।"[2] संघ का आग्रह था कि नौजवानों को भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव जैसे देश के लिए प्राण देने वाले देशभक्तों को आदर्श के रूप में नहीं देखना चाहिए। स्वयंसेवकों को इस बाबत आगाह करते हुए गोलवलकर बोलते हैं - "हमारी भारतीय संस्कृति को छोड़कर अन्य सभी संस्कृतियों में ऐसे बलिदानों की पूजा की जाती है व उनको आदर्श माना जाता है और ऐसे बलिदान करने वालों को राष्ट्रनायक के रूप में स्वीकार किया जाता है। परन्तु हमने हमारी भारतीय संस्कृति में ऐसे बलिदानों को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना गया है।"[1] इन देशभक्तों को आदर्श मत मानो, इतना कहकर ही गोलवलकर नहीं थमते हैं बल्कि इससे भी आगे वो बोलते हैं - "यह साफ़ है कि जो जीवन में असफल होते हैं उनमें निश्चित तौर पर कुछ गम्भीर खामियाँ होती हैं। जो ख़ुद हारा हुआ है वह किस प्रकार दूसरों को रौशनी दे सकता है और सफलता की राह पर ले जा सकता है? हवा के हल्के-से झोंके से काँपने वाली ज्योति हमारा मार्ग कैसे प्रकाशित कर सकती है?"[1] संघ की नज़र में शहीद होने वाले देशभक्त असफल नायक हैं व अंग्रेज़ों से माफ़ी माँगकर जेल से छूटने वाले व बाद में किसी प्रकार की ब्रिटिश-विरोधी कार्रवाई न करने वाले सावरकर स्वातन्त्र्यवीर है। देश की आज़ादी के लिए अपना जीवन दाँव पर लगा देने वाले महान देशभक्तों का ऐसा अपमान साम्राज्यवादी अंग्रेज़ों ने भी कभी नहीं किया था।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आज देशभक्ति व देशप्रेम का ठेकेदार बना हुआ है। जनता को अँधेरे में रखने के लिए व असली मुद्दों से ध्यान भटकाने के लिए देशभक्ति का अफ़ीम की गोली की तरह इस्तेमाल किया जा रहा है। धनपशुओं व पूँजीपतियों की चाकरी करने के काम को बेहतर तरीक़े से करने के लिए संघ ने देशभक्ति को एक बाज़ारू माल बना दिया है। पतंजलि का सामान ख़रीदने वाला ही असली देशभक्त, बाबा रामदेव की ये घोषणा इस बाज़ारू देशप्रेम का घृणित आविष्कार हम पहले ही देख चुके हैं। विभिन्न पूँजीवादी प्रसार माध्यमों के द्वारा किये जा रहे लुभावने प्रचार के पीछे छुपे ज़हरीले सत्य को पहचानने के लिए, जनता को ग़रीबी की ओर ढकेलने वाली व जनता के बीच फूट डालने वाली संघी राजनीति को उखाड़ फेंकने के लिए संघ का इतिहास जनता के सामने आना बहुत ज़रूरी है। आज संघ देशप्रेम की कितनी ही बातें कर ले पर उनका सच्चा काला इतिहास संघ के ही साहित्य में सुरक्षित रखा हुआ है। हाफ़ पैण्ट छोड़कर फुल पैण्ट पहनने पर भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का नंगापन छुपेगा नहीं।

सन्दर्भ :

1. श्रीगुरुजी समग्र दर्शन खंड 3

2. डॉ. हेडगेवार : क्रान्तदर्शी युगपुरुष – वि. वा. नेने

3. डॉ. हेडगेवार – ना. ह. पालकर

(सभी पुस्तकों के प्रकाशक: भारतीय विचार साधना प्रकाशन)

(लेखक मराठी मज़दूर अख़बार 'कामगार बिगुल' के सम्पादक हैं)

मराठी से अनुवाद - सत्या

पूँजीपतियों की साजिश को पहचानो! शासक वर्गों द्वारा मेहनतकशों की जातिगत गोलबन्दी का विरोध करो! अपने असली दुश्मन को पहचानो!

(पेज 13 से आगे)

पिछले वर्ष दायर हुई कुल एफ़आईआर में से केवल 1 प्रतिशत दलितों या आदिवासियों द्वारा हुई थी। इस 1 प्रतिशत में से 40 प्रतिशत ही दलित उत्पीड़न रोधी क़ानून के तहत हुई थी। और इन 40 प्रतिशत एफ़आईआर में दण्ड मिलने की दर मात्र 7 प्रतिशत है। 87 प्रतिशत केसेज़ पेण्डिंग हैं। क्या इस दावे में कुछ दम है कि इस क़ानून का दुरुपयोग होता है? यदि कुछ अपवादस्वरूप मामलों में दुरुपयोग होता भी है, तो इस आधार पर भारतीय संविधान व दण्ड संहिता के हर क़ानून को रद्द कर देना चाहिए, क्योंकि उन सबका ही दुरुपयोग होता है। सच यह है कि मराठा आबादी का कुलीन तबक़ा 50 प्रतिशत शैक्षणिक संस्थानों, 70 प्रतिशत ज़िला सहकारी बैंकों और 90 प्रतिशत शुगर कारख़ानों का मालिक है। प्रदेश की राजनीति पर मराठा कुलीन वर्ग का क़ब्ज़ा रहा है। 1960 से 18 मुख्यमन्त्रियों में से 10 और क़रीब 50 प्रतिशत विधायक इस मराठा बुर्जुआ वर्ग से आते हैं। यह स्वयं ग़रीब मराठा आबादी का शोषक और उत्पीड़क है। अगर इस मराठा कुलीन तबक़े को मराठा अस्मिता और बेहतरी की इतनी ही चिन्ता है, तो जिस क्षेत्र में सबसे बड़ी ग़रीब मराठा आबादी रहती है, जैसे कि मराठवाड़ा, वहाँ ये मराठा शासक खेती के संकट को दूर करने के लिए सिंचाई व क़र्ज़ माफ़ी की योजनाएँ लागू क्यों नहीं करते? ये रोज़गार गारण्टी क़ानून और बेरोज़गारी भत्ता को लागू क्यों नहीं करते? ये रोज़गार सृजन करने वाली वास्तविक विकास की नीतियों को लागू क्यों नहीं करते? ये पश्चिमी महाराष्ट्र की अपनी चीनी मिलों में न्यूनतम मज़दूरी क्यों नहीं लागू करते? कारण ये कि मराठों के बीच का यह छोटा-सा कुलीन पूँजीवादी तबक़ा अपने मुनाफ़े की हवस में अन्धा है और उसके लिए कुछ भी कर सकता है। मराठा मेहनतकश आबादी के साथ इसका जो वर्ग अन्तरविरोध है, उसे दबाने के लिए ही आज यह कुलीन मराठा शासक वर्ग दलित-विरोधी माहौल बना रहा है। यह व्यवस्था के विरुद्ध जनअसन्तोष को रोकने के लिए ग़रीबों को जाति के नाम पर एक-दूसरे के सामने खड़ा कर रहा है और ग़ैर-मुद्दों को मुद्दा बना रहा है।

हुक्मरानों की साज़िश में मत फँसो! मेहनतकशों की वर्ग एकजुटता स्थापित करो!

ये कोशिशें आज सिर्फ़ महाराष्ट्र में ही नहीं हो रही हैं। हाल ही में गुजरात में पटिदारों का उभार भी इसलिए पैदा किया गया था क्योंकि पटिदारों-पटेलों के बीच भी एक छोटा सा पूँजीपति वर्ग है जो स्वयं ग़रीब पटिदारों-पटेलों को लूट और दबा रहा है। इस ग़रीब आबादी का गुस्सा अपनी ही जाति के कुलीनों के प्रति न फूट पड़े इसलिए उसे दलितों और आदिवासियों के विरुद्ध मोड़ा जा रहा है। क्या हमने हरियाणा में (जहाँ पर बेरोज़गारी दर देश में सबसे तेज़ी से बढ़ रही है) हाल ही में आरक्षण के लिए हुए जाट आन्दोलन में यही षड्यन्त्र होते नहीं देखा? वहाँ भी ग़रीब और निम्न मध्यवर्गीय जाट आबादी के गुस्से को अन्य जातियों के विरुद्ध मोड़ दिया गया।

आज पूरे देश में ही पूँजीवादी व्यवस्था जनता को रोज़गार, रोटी, कपड़ा, मकान और सामाजिक-आर्थिक सुरक्षा व न्याय नहीं दे सकती है। ऐसे में, आम मेहनतकश लोगों का गुस्सा व्यवस्था-विरोधी रुख़ न ले ले, इसके लिए लोगों को जाति और धर्म के नाम पर लड़वाया जा रहा है। महाराष्ट्र में आज जो मराठा उभार हो रहा है, उसके मूल कारण तो मराठा ग़रीब आबादी में बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी और असुरक्षा है; लेकिन मराठा शासक वर्गों ने इसे दलित-विरोधी रुख़ देने का प्रयास किया है। इस साज़िश को समझने की ज़रूरत है। इस साज़िश का जवाब अस्मितावादी राजनीति और जातिगत गोलबन्दी नहीं है। इसका जवाब वर्ग संघर्ष और वर्गीय गोलबन्दी है। इस साज़िश को बेनक़ाब करना होगा और सभी जातियों के बेरोज़गार, ग़रीब और मेहनतकश तबक़ों को गोलबन्द और संगठित करना होगा। इसी प्रक्रिया में ब्राह्मणवाद और जातिवाद पर भी प्रहार करना होगा। वास्तव में, जाति उन्मूलन और ब्राह्मणवाद के नाश का रास्ता इसी प्रकार की वर्गीय गोलबन्दी के ज़रिये सम्भव है। अस्मिताओं के टकराव में हर अस्मिता कठोर बनती जाती है और अन्ततः ग़ैर-मुद्दों पर आम मेहनतकश लोग ही कट मरते हैं। क्या दशकों से ऐसा ही नहीं होता आया है? क्या अब भी हम शासक वर्गों के इस ट्रैप में फँसेंगे? क्या हम अब भी उनके हाथों मूर्ख बनते रहेंगे? नहीं! पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध एकजुट होना और इसके लिए और इसी प्रक्रिया में ब्राह्मणवाद, जातिवाद और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध समझौताविहीन संघर्ष करना - मेहनतकश जनता के पास यही एकमात्र रास्ता है!

नोटबन्दी और बैंकों के "बुरे क़र्ज़"

आठ नवम्बर की रात को प्रधानमन्त्री मोदी ने अचानक 500 और 1000 रुपये की नोटबन्दी का ऐलान किया। नक़दी परिचलन का 86 प्रतिशत हिस्सा 500 और 1000 रुपये के नोटों के रूप में ही था। ग़ौरतलब है कि लेन-देन का 90 प्रतिशत नक़दी के रूप में ही किया जाता है और 85 प्रतिशत से ज़्यादा कामगारों को तनख़्वाहों का भुगतान भी नक़दी के रूप में ही किया जाता है। फ़ाइनेंनशियल इनक्लायूशन इनसाइटस प्रोग्राम के एक सर्वे के अनुसार लगभग 53 प्रतिशत आबादी के पास कोई बैंक खाता नहीं हैं। यूनाइटेड नेशंस डेवलपमेण्ट प्रोग्राम की एक रिपोर्ट के अनुसार 80 प्रतिशत महिलाओं के पास कोई बैंक खाता नहीं है। ऐसे में सहज ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि नोटबन्दी का आम जनता पर कितना गहरा प्रभाव पड़ रहा होगा।

नोटबन्दी की घोषणा के बाद से अब तक एक महीने से ज़्यादा समय बीतने के बाद भी जनता की मुसीबतें बदस्तूर जारी हैं। बैंकों के बाहर लोग घण्टों खड़े होकर अपनी दैनिक ज़रूरतों के लिए नक़दी निकालने के लिए मजबूर कर दिये गये हैं। जिन लोगों के बैंक खाते नहीं थे, उन्हें नोट बदलवाने के लिए बिचौलियों का सहारा लेना पड़ा जिसकी एवज़ में उन्होंने 30 से 40 प्रतिशत तक का कमीशन काटा। ज़्यादातर कारख़ानों में तो मालिक अब भी मज़दूरों को पुराने 500 और 1000 रुपये के नोटों के रूप में ही तनख्वाहों का भुगतान कर रहे हैं, मज़दूरों के एतराज़ जताने पर उन्हें काम छोड़ने के लिए कहा जा रहा है। नोटबन्दी के बाद कई कम्पनियों ने मज़दूरों को उनकी तनख्वाहों का भुगतान करने में असमर्थता जताते हुए तालाबन्दी की घोषणा कर दी है। पश्चिम बंगाल के हावड़ा ज़िले में श्री हनुमान जूट मिल में 5 दिसम्बर को कम्पनी प्रबन्धन ने कम्पनी बन्दी का ऐलान किया जिसके बाद 2500 मज़दूरों को काम से हाथ धोना पड़ा। मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ़ डेवलपमेण्ट स्टडीस के एक अर्थशास्त्री एस. जनकरंजन के अनुसार नोटबन्दी के बाद बड़ी तादाद में निर्माण मज़दूरों पर छँटनी की तलवार लटक रही है। एक अनुमान के अनुसार तमिलनाडु के निर्माण उद्योग में लगे लगभग 5 लाख मज़दूरों पर इस समय छँटनी का ख़तरा मँडरा रहा है। नोटबन्दी के बाद नक़दी और काम दोनों में ही आयी कमी के कारण सूरत के डायमण्ड कटिंग और पॉलिशिंग उद्योग में लगे क़रीब 20 लाख मज़दूरों में से तक़रीबन 10 लाख मज़दूर अपने गाँवों की ओर वापस रुख़ कर रहे हैं (स्रोत: बिज़नेस स्टेण्डर्ड, 10 दिसम्बर)। कमोबेश यही स्थिति राजकोट के ज्वेलरी उद्योग, अलंग में जहाज़ तोड़ने के काम में लगे मज़दूरों की है। इसी तरह पूर्वी बंगाल के तराई इलाक़े के एक चाय बागान की बन्दी के बाद क़रीब 2,500 मज़दूरों की रोज़ी-रोटी का स्रोत पूरी तरह ख़त्म होता है (स्रोत: इण्डियन एक्सप्रेस, 11 दिसम्बर)। दिये गये आँकड़े यह बताने के लिए काफ़ी हैं कि नोटबन्दी ने आम मेहनतकश जनता को कितनी बुरी तरह प्रभावित किया है। सरकार व उसके पिट्ठू नोटबन्दी के समर्थन में चाहे कितने ही (कु)तर्क देकर बच निकलने की बेशर्म कोशिशें करें, लेकिन जनता पर बरपाये गये इस कहर पर पर्दा नहीं डाला जा सकता।

नोटबन्दी का ऐलान करते हुए यह दावा दिया गया कि यह क़दम काला धन और नक़ली नोटों पर नकेल कसने के लिए उठाया गया है। आइए, ज़रा इन दावों की भी पड़ताल कर लें। ज्ञात हो कि काले धन का केवल 6 प्रतिशत ही नक़दी के रूप में मौजूद रहता है। काले धन का बड़ा हिस्सा ऐसे देशों या इलाक़ों (जैसे स्वीट्ज़रलैण्ड, पनामा, बरमूडा, केमन आइलैण्ड, वर्जिन आइलैण्ड आदि) में लगाया जाता है जो या तो पूरी तरह कर मुक्त होते हैं, या फिर वहाँ नाममात्र का कर लगता है। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि नोटबन्दी की तारीफ़ों के पुल उन तमाम नामी-गिरामी हस्तियों (याद कीजिए अमिताभ बच्चतन, अजय देवगन) ने बाँधे जिनका नाम पनामा पेपर लीक मामले में सामने आया था। इसके अलावा काला धन बड़े पैमाने पर रियल एस्टेट, सोना या शेयर की ख़रीदारी में लगा दिया जाता है। यही नहीं बड़े-बड़े पूँजीपति फ़र्ज़ी कम्पनियों के नाम पर (जिसका कोई वास्तविक कारोबार नहीं है) काले धन को एफ़डीआई का नाम देकर पुन: देश की अर्थव्यवस्था में ले आते हैं। इस प्रक्रिया को कैपीटल राउण्ड ट्रिपिंग के नाम से जाना जाता है। ऐसे में स्पष्ट है कि काला धन के असली खिलाड़ी जो बहुतेरी तकनीकों का इस्तेमाल करके अपना काला धन ठिकाने लगाते हैं उन पर नोटबन्दी का कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला। हाँ, इससे यह ज़रूर होगा कि कुछ छोटे-मोटे खिलाड़ी पकड़ में आ सकते हैं।

अब नोटबन्दी से नक़ली नोटों के ख़ात्मे के दावे की पड़ताल कर ली जाये। नेशनल इन्वेस्टीगेटिव एजेंसी (एनआइए) और इण्डियन स्टैटिस्टिकल इंस्टीट्यूट के 2015 के एक संयुक्त अध्ययन के अनुसार अर्थव्यवस्था में हमेशा ही 400 करोड़ की नक़ली मुद्रा मौजूद रहती है। एक और मज़ेदार तथ्य देखिए, फाइनेंशियल एक्सप्रेस की 15 नवम्बर की एक ख़बर के अनुसार नयी नोटों की केवल छपाई का ही ख़र्च 11,000 करोड़ रुपये है। अब ज़रा सोचिए कि 400 करोड़ के नक़ली नोटों के ख़ात्मे के लिए 11,000 करोड़ का ख़र्च करके नये नोट छापना कहाँ की समझदारी है!

बहरहाल, अब तक तो यह स्पष्ट हो ही गया है कि नोटबन्दी से न तो काला धन पर लगाम लग सकती है, न ही नक़ली नोटों के कारोबार पर। तब फिर सवाल उठता है कि आख़िरकार नोटबन्दी का यह क़दम उठाया ही क्यों गया है? अगर समय में ज़्यादा नहीं, क़रीब 1 साल पीछे जाये तो आपको शायद याद हो कि अगस्त 2015 में वित्त मन्त्री अरुण जेटली का बयान आया था कि तरलता की कमी से निपटने के लिए बैंको में 70,000 करोड़ रुपये डालने की आवश्यकता है। आख़िरकार तरलता की यह कमी पैदा ही कैसे हुई? इस कमी का कारण है बैंकों के "बुरे क़र्ज़" या नॉन-परफ़ॉर्मिंग एसेट्स (एनपीए)। एनपीए का अर्थ है लेनदार द्वारा 90 दिनों की समय सीमा के दौरान न तो मूलधन न ही ब्याज़ की अदायगी। भूतपूर्व आरबीआई गवर्नर रघुराम राजन के अनुसार भारतीय बैंकों पर इन बुरे क़र्ज़ों की मात्रा मार्च 2016 तक 6 लाख करोड़ तक पहुँच चुकी है। इन बुरे क़र्ज़ों का 90 प्रतिशत भार पब्लिक सेक्टर के बैंकों पर है। वैसे हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बैंकों की छवि को खराब होने से बचाने के लिए इन बुरे क़र्ज़ों की मात्रा को कम करके बताया जाता है। असली तस्वीर की भयावहता का अन्दाज़ा रेटिंग एजेंसियों की रिपोर्टों से पता चल जाता है। भारतीय रेटिंग एजेंसी इण्डिया रेटिंग्स के अनुसार मार्च 2016 तक भारतीय बैंकों द्वारा दिया गया कुल क़र्ज़ 70 लाख करोड़ था और इसका 1/5वाँ भाग (यानी 13 लाख करोड़) स्ट्रेस्ड एसेट्स का था। स्ट्रेस्ड एसेट्स बैंको द्वारा दिये गये उन क़र्ज़ों को कहा जाता है जिनके वापस आने की या तो कोई उम्मीद नहीं है, या बहुत कम उम्मीद है या फिर उन्हें पूरी तरह माफ़ कर दिया गया है। ग़ौरतलब है कि अभी कुछ महीने पहले 29 सरकारी बैंकों ने पूँजीपतियों द्वारा लिये गये 1.54 लाख करोड़ के बुरे क़र्ज़ को पूरी तरह माफ़ कर दिया है। 9000 करोड़ रुपये डकारकर विजय माल्या विदेश भाग गया यह किसी से छिपा नहीं है। हालाँकि विजय माल्या तो केवल एक नाम है जो चर्चा में आया, दरअसल इस हमाम के कई नंगे धड़ल्ले से सरकार की मदद से जनता की आँखों में धूल झोंक रहे हैं। बैंकों में जमा जनता की गाढ़ी कमाई को खुलेआम पूँजीपतियों को क़र्ज़ के रूप में दिया जाता है और जब वे उसे लौटाने से मना करते हैं तो सरकारें तब भी कोई कार्रवाई करने के बजाय उनको पलकों पर बिठा कर रखती है।

शोध संस्थान क्रेडिट स्यूसी रिसर्च की रिपोर्ट बताती है कि भारत में जिन कॉरपोरेट घरानों पर सबसे ज़्यादा क़र्ज़ लदा है उसमें नामी-गिरामी कम्पनियाँ वेदान्ता, एस्सार, अडानी, अनिल अम्बानी और मुकेश अम्बानी की कम्पनियाँ शामिल हैं। कुल मिलाकर, बैंक अपनी साख़ बचाने के लिए तरह-तरह की तकनीकी शब्दावलियाँ गढ़कर जनता की नज़र से असलियत छिपाने की घिनौनी कोशिशें करते हुए पूँजीपतियों की तन-मन-धन से सेवा करते हैं। यह स्पष्ट है कि बैंकों पर इन बुरे क़र्ज़ों के दबाव से अर्थव्यवस्था में तरलता की कमी का आना निश्चित था। नोटबन्दी का ऐलान करके जनता को नक़दी जमा करने के लिए मजबूर करके इस तरलता की कमी से निपटने का आसान तरीक़ा खोजा गया।

काले धन पर सर्जिकल स्ट्राइक का हवाला देकर सरकार की असली मंशा काला धन पर हमला नहीं बल्कि पूँजीपतियों की सेवा करना है। यहाँ एक और तथ्य का ज़िक्र करते हुए चलें। नोटबन्दी के फ़ैसले के बाद बैंकों ने ब्याज़ दरें घटा दी हैं। इससे ज़ाहिरा तौर पर जनता को तो कोई लाभ नहीं होगा पर 7.3 लाख करोड़ का क़र्ज़ दबाये बैठे 10 बड़े ऋणग्रस्त कॉरपोरेट घरानों के लिए तो यह क़दम सोने पर सुहागा होने जैसा है। भई साफ़ है, यह जनता नहीं पूँजीपतियों की सरकार है।

– श्वेता

नोटबन्दी: जनता की गाढ़ी कमाई से सरमायेदारों की तिजोरियाँ भरने का बन्दोबस्त

(पेज 10 से आगे)

यह सब कुछ बैंकिंग चैनल के ज़रिये हुआ था। शायद मोदी सरकार की नज़र में यह घपला था ही नहीं, इन दोनों को तो ईनाम मिलना चाहिए, कैशलेस के ब्राण्ड एम्बेसडर होने का! आयात में क़ीमत से ज़्यादा बिल और निर्यात में क़ीमत से कम बिल द्वारा काला धन पैदा करने वाले तरीक़े जो ऊपर बताये गये वे भी 'कैशलेस' और डिजिटल तरीक़े से ही चलते हैं। इसका पैसा जब मॉरीशस-सिंगापुर होते हुए बिना पहचान वाले पी-नोट्स के ज़रिये विदेशी निवेश के रूप में आता है तो वह भी कैशलेश और डिजिटल होता है। बड़े प्रोज़ेक्ट्स बढ़ी-चढ़ी लागत के फ़र्ज़ी बिलों के ज़रिये जो बैंक क़र्ज़ लिया और बाद में कम्पनी को बीमार कर मारा जाता है वह भी सब कैशलेस ही होता है। विजय माल्या ने जो 9 हज़ार करोड़ का चूना बैंकों को लगाया वह भी तो पक्का कैशलेस और डिजिटल था, बोरी में नक़दी भरकर नहीं भागा वह!

अगर दुनिया के और देशों का भी उदाहरण देखें तो दक्षिण कोरिया और नाइजीरिया जैसे देशों में सकल घरेलू उत्पाद में नक़दी की मात्रा बहुत कम – लगभग 4% - है लेकिन दोनों में भ्रष्टाचार कम होने का कोई प्रमाण नहीं बल्कि दक्षिण कोरिया की राष्ट्रपति को तो फ़िलहाल ही भ्रष्टाचार के आरोपों के चलते पद से हटने के लिए मजबूर किया जा रहा है। इसके विपरीत जापान में भारत के 11.7% के मुकाबले 20% नक़दी है लेकिन वहाँ भारत से बहुत ज़्यादा भ्रष्टाचार का कोई प्रमाण नहीं।

फिर मात्र आम लोगों के लेन-देन का रिकॉर्ड रखने में सरकार इतनी दिलचस्पी क्यों दिखा रही है? इसकी एक बड़ी वजह है कि इससे लोगों के ऊपर निगाह रखना, उनकी जासूसी करने का एक मजबूत तन्त्र खड़ा होगा। हाल के वक़्त में दुनिया के सभी पूँजीवादी देशों की सरकारें भिन्न विचार रखने वाले, अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का विरोध करने वाले व्यक्तियों पर निगहबानी का शिकंजा कसने में बहुत निवेश कर रही हैं जिससे जनवादी आन्दोलनों को नियन्त्रित किया जा सके। इसका एक दूसरा उपयोग ऐसे कार्यकर्ताओं को बदनाम करने के लिए उनके किसी पुराने लेन-देन, किसी वस्तु की ख़रीद को बग़ैर सन्दर्भ बताये प्रचारित करने में भी किया जाता है। गुजरात के 2002 के साम्प्रदायिक दंगों में मोदी की भूमिका की विरोधी कार्यकर्ता तीस्ता सीतलवाड़ को बदनाम करने के लिए अभी कुछ ही समय पहले गुजरात पुलिस ने ऐसे ही उनके क्रेडिट कार्ड के रिकॉर्ड का प्रयोग किया था।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण नक़दी रहित मात्र इलेक्ट्रॉनिक मुद्रा की स्थिति में किसी व्यक्ति ही नहीं बल्कि पूरे इलाक़े के जनसमुदाय के जीवन को मात्र कीबोर्ड पर कुछ बटन दबाकर पंगु बना देना भी शासक तबक़े के लिए बहुत आसान हो जायेगा। अभी ही हम देखते हैं कि किसी भी आन्दोलन की स्थिति में प्रशासन सबसे पहले मोबाइल-इण्टरनेट को ही बन्द करता है। पिछले एक साल में हरियाणा के जाट आन्दोलन, गुजरात के पाटीदार आन्दोलन, कश्मीर, झारखण्ड, उत्तर-पूर्व आदि में कुल जोडें तो 250 दिन तक इण्टरनेट/मोबाइल पर रोक लगायी जा चुकी है। कैशलेस डिजीटल लेन-देन पर निर्भरता की स्थिति में प्रशासन के लिए किसी भी क्षेत्र के समस्त जनसमुदाय को उनके धन तथा वस्तुओं की ख़रीद-फ़रोख्त की आम सुविधा से भी वंचित कर पाना बेहद आसान होगा। ऐसी स्थिति किसी भी देश की जनता के लिए क़तई स्वीकार्य नहीं होनी चाहिए क्योंकि यह उनके स्वतन्त्रता और जनवादी अधिकारों के हनन का रास्ता खोल देगी।

इसलिए नोटबन्दी मात्र किसी नीति के ग़लत क्रियान्वयन और कुप्रबन्ध से जनता को होने वाली तक़लीफ़ का ही सवाल नहीं है बल्कि ग़रीब, कमजोर, वंचित, शोषित, मेहनतकश बहुसंख्यक तबक़े से ताक़तवर और पहुँच वाले पूँजीपति और उच्च मध्यम वर्ग को धन/सम्पदा के बड़े और स्थाई हस्तान्तरण, साफ़ शब्दों में कहें तो लूट और डकैती, का बड़ा सवाल है। लेकिन बुर्जुआ विपक्षी पार्टियाँ, कुछ संसदीय 'वामपन्थी' दलों समेत, नोटबन्दी के इस मुद्दे को मात्र कुप्रबन्ध/असुविधा के सवाल तक सीमित करना चाहते हैं क्योंकि वह जनता के गुस्से को पूँजीवादी शासन व्यवस्था के ही ख़िलाफ़ जाने से रोकने के लिए प्रयासरत हैं। इसके असली जनविरोधी स्वरूप के सवाल को ये पार्टियाँ नहीं उठाना चाहतीं क्योंकि अन्त में ये सब सरमायेदार तबक़े की ही सेवा करती हैं।

●

मेहनतकश जन-जीवन पर पूँजी के चतुर्दिक हमलों के बीच गुज़रा एक और साल

(पेज 1 से आगे)

भी जन बग़ावत की असलियत छिपाने के लिए सरकार ने अन्धराष्ट्रवाद का ही सहारा लिया। यह बात दीगर है कि कश्मीर में सेना के बर्बर कृत्यों को अन्धराष्ट्रवाद के गुबार में छिपाने की तमाम कोशिशों के बावजूद कश्मीर घाटी में भारतीय राज्य के ख़िलाफ़ उमड़ा जनसैलाब सुर्खियों में छाया रहा। पहले हन्दवाड़ा की शर्मनाक घटना और फिर बुरहान वानी की हत्या के बाद कश्मीर घाटी में जनविद्रोह जिस भयानक रूप में उमड़ा उससे स्पष्ट था कि जाड़ों में बर्फ़बारी भले ही उसकी ज्वाला को थोड़ी देर के लिए शान्त कर दे, लेकिन भविष्य में वह फिर-फिर उमड़ेगा और भारत के हुक्मरानों की नींद हराम करता रहेगा। कश्मीर के अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में भी भारतीय राज्य की बर्बरता अपने वीभत्सतम रूप में दिखी। फ़र्ज़ी मुठभेड़ों का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा और खनिज सम्पदा को देशी-विदेश पूँजीपतियों को सौंपने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए भारतीय राज्यसत्ता छत्तीसगढ़ की आदिवासी जनता की ज़िन्दगी को तार-तार करती रही। छत्तीसगढ़ में भारतीय राज्य के बर्बर कृत्यों की भनक देश की आम आबादी तक न पहुँचने पाये, इसके लिए वहाँ काम कर रहे जनपक्षधर पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और अकादमीशियनों को भाँति-भाँति की तिकड़मों के ज़रिये प्रताड़ित किया गया ताकि वे उस इलाक़े से चले जायें।

बढ़ती जातीय नफ़रत और दलितों पर हमले

अन्धराष्ट्रवादी जुनून भड़काने के अतिरिक्त संघ परिवार के ब्राह्मणवादी फ़ासिस्ट गिरोह ने इस साल दलितों पर ताबड़तोड़ हमले किये। हैदराबाद सेण्ट्रल यूनिवर्सिटी में प्रशासन और संघ के छात्र संगठन एबीवीपी की मिलीभगत से दलित छात्रों के साथ की गयी ज़्यादतियों से तंग आकर एक दलित छात्र रोहित वेमुला को आत्महत्या करने के लिए मजबूर होना पड़ा। रोहित की आत्महत्या के बाद दलित उत्पीड़न का मुद्दा राष्ट्रीय राजनीति के पटल पर भी छाया रहा और उससे मोदी सरकार की किरकिरी भी हुई। जेएनयू प्रकरण के बाद अन्धराष्ट्रवाद की हवा में संघ परिवार ने दलित-उत्पीड़न के मुद्दे को भी दबाना चाहा। लेकिन साल के मध्य में गुजरात के ऊना में कुछ दलित युवकों को संघ परिवार द्वारा प्रायोजित गोरक्षा गिरोह के गुण्डों ने बर्बरता से पीटने की घटना के बाद दलित उत्पीड़न के मुद्दे को लेकर एक बार फिर पूरे देश में जनाक्रोश देखने में आया। लेकिन ऊना के बाद महाराष्ट्र में भी दलितों पर बर्बर हमले बदस्तूर जारी रहे। दलितों पर होने वाले इन हमलों से एक बार फिर साबित हो गया कि बुर्जुआ चुनावी राजनीति की नौटंकी के ज़रिये दलित मुक्ति का ख़्वाब देख रहे लोग कितनी बड़ी ग़फ़लत में जी रहे हैं।

नोटबन्दी का नया पैंतरा : जनता की आँखों में धूल झोंककर पूँजीपति आकाओं का संकट दूर करने का खेल

अन्धराष्ट्रवादी जुनून और साम्प्रदायिक व जातिगत नफ़रत की आग भड़काने के बावजूद जब मोदी सरकार का निकम्मापन छिपाये नहीं छिप रहा था तो ग़रीबी, महँगाई, बेरोज़गारी से त्रस्त आम जनता की आँखों में धूल झोंकने के लिए साल के आखिर में मोदी सरकार ने नोटबन्दी के नाम पर नया पैंतरा फेंका। 2014 के लोकसभा चुनाव से पहले नरेन्द्र मोदी द्वारा काले धन को वापस लाने और हर देशवासी के बैंक खाते में 15-15 लाख रुपये जमा करवाने का वायदा जनता को अच्छी। तरह से याद था। सत्ता। में आने के ढाई साल बाद भी काला धन वापस आना तो दूर, इस साल पनामा पेपर्स के सनसनीखेज खुलासे के बाद यह साफ़ होता जा रहा था कि मोदी राज दरअसल धन्नाससेठों का राज है और काले धन के ख़िलाफ़ जंग का ऐलान सत्ता पाने के लिए भाजपा द्वारा उछाला गया महज़ एक चुनावी जुमला था। मोदी सरकार की पूँजीपतियों के प्रति स्वाऐमीभक्ति उस समय जगज़ाहिर हो गयी जब उसने भारतीय बैंकों से 9000 करोड़ रुपये का क़र्ज़ा लेकर हजम करने वाले अय्याश धनपशु विजय माल्यात को देश से फ़रार होने दिया। दूसरी ओर पूँजीपतियों द्वारा बैंकों से लिए क़र्ज़ बढ़ते गये और बैंकेां के नॉन परफार्मिंग एसेट्स (ऐसे क़र्ज़ जिनकी अदायगी की संभावन बेहद कम है) कई लाख करोड़ तक पहुँच गये। ऐसी परिस्थिति में मोदी सरकार ने नोटबन्दी के फ़ैसले के ज़रिये जहाँ एक ओर काले धन के ख़िलाफ़ जंग को लेकर जनता में अपनी खोती जा रही साख को वापस लाने की कोशिश की, वहीं दूसरी ओर इसी बहाने पूँजीपतियों द्वारा लिये गये क़र्ज़ों की अदायगी न होने से खस्ता हाल बैंकों को जनता की गाढ़ी कमायी के ज़रिये संजीवनी देने की कुटिल चाल चली। लेकिन नोटबन्दी का क़हर जिस तरह से मेहनत-मजूरी करके किसी तरह अपनी रोज़ी-रोटी चलाने वाली आम आबादी पर बरपा है और जनता के कष्टों के प्रति प्रधानमन्त्री सहित सरकार के तमाम नुमाइन्दों ने जिस क़दर संवेदनशून्यता दिखायी है उससे यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो जाता है कि यह सरकार ग़रीबों-मेहनतकशों की धुर-विरोधी है और पूँजीपतियों की चाकरी में यह अव्वल नम्बर पर है।

दुनियाभर में मन्दी की मार मेहनतकशों पर

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भी इस साल पूँजी की मार दुनिया भर की मेहनतकश आबादी पर बदस्तूर जारी रही। 2007 से जारी विश्वव्यापी महामन्दी के भंवरजाल से निकलने के आसार इस साल भी नहीं नज़र आये। उल्टे दुनिया की तथाकथित उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ भी मन्दी की चपेट में आती दिखीं। अमेरिका और यूरोप के विकसित मुल्कों की मेहनतकश जनता भी बेरोज़गारी, महँगाई, सार्वजनिक सुविधाओं में कटौती और बढ़ती आर्थिक असमानता से त्रस्त दिखी। हालाँकि किसी क्रान्तिकारी ताक़त की ग़ैर-मौजूदगी में संकट की इस विकट परिस्थिति का लाभ धुर-दक्षिणपन्थी ताक़तें ले उड़ीं।

पश्चिमी देशों में बढ़ती नव-फासीवादी ताक़तें

पश्चिम का उदारवादी तबक़ा ब्रेक्ज़िट (ब्रिटेन का यूरोपीय संघ से बाहर जाना) और अमेरिका में ट्रम्प की जीत के बाद से सदमे में है। इस साल घटित ये दोनों परिघटनाएँ निश्चित रूप से साम्राज्यवाद के इतिहास में बेहद अहम हैं और इनके दूरगामी परिणाम होने निश्चित हैं। इसमें कोई दो राय नहीं कि ये दोनों परिघटनाएँ पश्चिम के विकसित देशों में बढ़ते नस्लवाद, प्रवासी-विरोध और प्रतिक्रियावादी विचारों की पैठ का संकेत देती हैं, लेकिन मज़दूर वर्ग के नज़रिये से इनको देखने पर हम पाते हैं कि दरअसल वे आर्थिक संकट से जूझ रही मेहनतकश जनता के गुस्से की अभिव्यक्ति हैं। आर्थिक संकट के दौर में अमूमन ऐसा होता है कि किसी क्रान्तिकारी ताक़त की ग़ैर-मौजूदगी या कमज़ोर उपस्थिति की वजह से संकट की परिस्थिति का लाभ दक्षिणपन्थी राजनीति को मिलता है जो लोकलुभावन नारों और जुमलों के ज़रिये जनता के बीच अपनी पैठ बना लेती है। ज़ाहिर है कि ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से अलग होने के बाद भी वहाँ की मेहनतकश जनता की परेशानियाँ किसी भी रूप में कम नहीं होने वाली हैं। अमेरिका में भी मेहनतकश तबक़े के जिस हिस्से ने ट्रम्प की जुमलेबाज़ी में फँसकर उसको वोट दिया था उसका भी मोहभंग होना बस समय की बात है। ऐसे में अमेरिका, ब्रिटेन और यूरोप में क्रान्तिकारी ताक़तों का यह दायित्व बनता है कि वे जनता के बीच संकट का मज़दूर वर्गीय नज़रिया लेकर जायें और उसे यह बतायें कि पूँजीवाद के रहते उन्हें बदहाली ही नसीब होने वाली है और यह कि दुनिया के हर हिस्से में मज़दूर वर्ग की मुक्ति का रास्ता मज़दूर इंक़लाब से ही होकर जाता है।

साम्राज्यवादी लुटेरों के बीच तीखी होती होड़ और जनता पर पड़ती इसकी मार

इस साल दुनिया के विभिन्न हिस्सों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखे होने के स्पष्ट प्रमाण मिले। सीरिया में युद्ध की महाविभीषिका अभी भी जारी है जिसमें अब तक लगभग साढ़े चार लाख लोग मौत के घाट उतारे जा चुके हैं और 1 करोड़ से भी अधिक लोगों को अपना घर-बार छोड़ना पड़ा है। 2011 से जारी इस युद्ध में सीरिया के क़रीब 48 लाख लोग तुर्की, मिस्र, जॉर्डन, लेबनॉन और इराक़ में पलायन करने को मजबूर हुए हैं और क़रीब 66 लाख लोग सीरिया के भीतर ही दूसरी जगहों पर पलायित हुए हैं। क़रीब 10 लाख सीरियाइयों ने यूरोप में पनाह माँगी है। ग़ौर करने वाली बात यह है कि इस युद्ध में रूस और चीन के असद की ओर से कूद पड़ना साम्राज्यवादी जगत में एक नयी धुरी के मज़बूत होने का जीता-जागता सबूत है।

सीरिया युद्ध के अतिरिक्त अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के तीखा होने के प्रमाण और भी क्षेत्रों में देखने को मिले। इसी साल अमेरिका व नाटो ने 31000 सैनिकों और 105 विमानों व 12 युद्धक विमानों के साथ रूसी सीमा के समीप अब तक का सबसे बड़ा युद्धाभ्यास किया। उधर चीन ने दक्षिण चीन सागर में विवादित द्वीपों सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघ के एक ट्राइब्यूनल फ़ैसले को खुले आम धता बताते हुए एक साम्राज्यवादी राष्ट्र के रूप में अपनी उपस्थिति जगज़ाहिर की है। इसके अतिरिक्त फ़िलीपीन्स के नव निर्वाचित राष्ट्रपति रोड्रिगो दुतेर्ते की अमेरिका से दूरी और चीन से क़रीबी से भी एशिया प्रशान्त में अमेरिका के वर्चस्व वाले पुराने साम्राज्यवादी समीकरण में बदलाव के संकेत मिल रहे हैं। एक साम्राज्यवादी देश के रूप में चीन के तेज़ी से उभार के संकेत तीन विकास बैंकों – एशियन इंफ्रास्ट्रक्चर इंवेस्टमेण्ट बैंक, यूरोपियन बैंक फ़ॉर रीकंस्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेण्ट तथा ब्रिक्स के न्यू डेवलपमेण्ट बैंक – में चीन के बढ़ते दबदबे में भी स्पष्ट देखे जा सकते हैं। चीन सिल्क रोड पहल के तहत समूचे यूरेशियाई क्षेत्र में अपना दबदबा बढ़ाना चाहता है। उत्तरी अफ़्रीका, मध्य एशिया और तुर्की में चीन पहले ही पूँजी का निर्यात करता रहा है, उसकी आगामी योजना पूर्वी यूरोप और पूर्व सोवियत संघ के गणराज्यों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को नयी ऊँचाइयों पर ले जाने की है। स्पष्ट है कि आने वाले वर्षों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा और तीखी होने वाली है जिसका दंश दुनिया भर की मेहनतकश आबादी को ही झेलना पड़ेगा।

अमेरिका के नेतृत्व में बरसों से चलाया जा रहा आतंक के ख़िलाफ़ युद्ध दुनिया भर में आतंकवाद की जड़ें और मज़बूत कर रहा है। इस साल भी ब्रसेल्स, पेरिस, ढाका सहित दुनिया के कई हिस्सों में भीषण आतंकी कार्रवाइयाँ अंजाम दी गयीं। अमेरिका द्वारा खड़ा किया गया इस्लाम स्टेट का भस्मासुर अपनी वीभत्सता के पुराने कीर्तिमान तोड़ता पाया गया।

जनता का प्रतिरोध जारी है!

दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में आम मेहनतकश आबादी के जीवन पर पूँजी के चतुर्दिक हमलों के प्रतिकार के भी कुछ शानदार उदाहरण इस साल देखने को मिले जिनसे इस अन्धकारमय दौर में भी भविष्य के लिए उम्मीदें बँधती हैं। भारत की बात करें तो इस साल बेंगलूरू के टेक्सटाइल उद्योग की महिला मज़दूरों ने मोदी सरकार की ईपीएफ़ सम्बन्धी मज़दूर विरोधी नीति के विरोध में ज़बरदस्त जुझारूपन का परिचय देते हुए समूचे बेंगलूरू शहर को ठप कर दिया। बेंगलूरू की महिला टेक्सटाइल मज़दूरों के जुझारू संघर्ष को देखते हुए केन्द्र सरकार बचाव की मुद्रा में आ गयी। इसी तरह से राजस्थान के टप्पूखेड़ा में होण्डा कम्पनी द्वारा 3000 मज़दूरों के निकाले जाने के बाद शुरू हुआ होण्डा मज़दूरों का जुझारू संघर्ष भी प्रेरणादायी रहा। 8 महीने लम्बे संघर्ष के बाद होण्डा मज़दूरों ने 19 सितम्बर से दिल्ली के जन्तर मन्तर पर अपना खूँटा गाड़ा और विषम परिस्थितियों के बावजूद 52 दिन तक डटे रहे। दुनिया के अनेक हिस्सों में भी मज़दूरों और आम मेहनतकश आबादी के जुझारू संघर्ष देखने को मिले। अमेरिका में काले लोगों पर जारी लगातार हमलों के ख़िलाफ़ 'ब्लैक लाइव्स मैटर्स' नामक एक लड़ाकू संघर्ष शुरू हुआ जिसमें बड़ी संख्या में लोगों ने भागीदारी की। साल के अन्त में उत्तरी डकोता प्रान्त के कैनन बॉल क़स्बे की आदिवासी आबादी ने एक दैत्याकार कम्पनी द्वारा बनाये जा रहे गैस व तेल पाइपलाइन के प्रोज़ेक्ट को अपने जुझारू संघर्ष के ज़रिये रोकने पर मजबूर कर दिया। इसके अतिरिक्त यूरोप के विभिन्न देशों में भी आम जनता तमाम मसलों पर सड़कों पर उतरी। ख़बरों के अनुसार चीन में भी हड़तालों की संख्या में ज़बरदस्त वृद्धि हुई। ज़ाहिर है कि जैसे-जैसे पूँजीवादी व्यवस्था का संकट और गहराता जायेगा, जनता के जुझारू संघर्ष पूरी दुनिया में फैलेंगे। ऐसे में क्रान्तिकारी ताक़तों के सामने चुनौती यह है कि आने वाले दिनों में जनता के स्वत:स्फूर्त संघर्षों को एक कड़ी में पिरोकर व्यवस्था परिवर्तन की दूरगामी लड़ाई से जोड़ा जाये।

नोटबन्दी: जनता की गाढ़ी कमाई से सरमायेदारों की तिजोरियाँ भरने का बन्दोबस्त

(पेज 1 से आगे)

ख़ान, कारख़ानों, सोना-चाँदी, हीरे-मोती, जैसे दिखायी देने वाले रूपों से भी ज़्यादा देशी-विदेशी कम्पनियों के शेयरों-बॉन्ड्स, देशी-विदेशी बैंक खातों, पनामा-सिंगापुर जैसे टैक्स चोरी के अड्डों में स्थापित काग़ज़ी कम्पनियों और बैंक खातों, मॉरीशस की काग़ज़ी कम्पनियों के पी-नोट्स, वग़ैरह जटिल रूपों में भी रहती है। मौजूद व्यवस्था में जिन के पास असली सम्पत्ति है वह असल में इसे नोटों के रूप में भरकर नहीं रखते क्योंकि उससे यह सम्पत्ति बढ़ती नहीं बल्कि इसके रखने में कुछ ख़र्च ही होता है और चोरी जाने का ख़तरा भी होता है| इसके बजाय वह इसे उपरोक्त विभिन्न रूपों-कारोबारों में निवेश करते हैं जिससे उनकी सम्पत्ति लगातार बढ़ती रहे। बल्कि ऐसे लोग तो आजकल बैंक नोटों का रोज़मर्रा के कामकाज में भी ज़्यादा इस्तेमाल नहीं करते क्योंकि ये अपना ज़्यादा काम डेबिट-क्रेडिट कार्ड या ऑनलाइन लेन-देन के ज़रिये करते हैं। इनके लिए करेंसी नोट के रूप में मुद्रा का इस्तेमाल बहुत सीमित है और सम्पत्ति की ख़रीद-फ़रोख़्त में टैक्स बचाने, रिश्वत देने, राजनीतिक दलों को देने या ऐसे ही कुछ और कार्यों के लिए ही उसे अस्थाई तौर पर नोटों में बदला जाता है।

इसके विपरीत देश की अर्थव्यवस्था में 45% हिस्सा रखने वाला एक अनौपचारिक-असंगठित क्षेत्र है जिसमें छोटे उद्योग, व्यवसाय, पटरी-रेहडी दुकानदार, छोटे-मध्यम किसान और कुल मज़दूरों का अधिकांश हिस्सा आता है। इनके लिए नक़दी कारोबार और जीविका का अनिवार्य-अटूट अंग है। इन कारोबारों के लिए नक़दी उनकी कुल चालू पूँजी है क्योंकि इनका सारा लेन-देन कैश में ही होता है। ये इस नक़द चालू पूँजी से ही कच्चा माल ख़रीदते हैं, कल-पुर्जों का मेण्टेनेंस करते हैं, मज़दूरी का भुगतान करते हैं और फिर तैयार माल बेचकर इस चक्र को चलाते रहते हैं। इसी चक्र में से अपने मुनाफ़े का हिस्सा निकालकर अपने ख़र्च में भी लगाते हैं। अगर इस पूँजी का कोई हिस्सा किसी वजह से कहीं अटक जाये तो उस हद तक इनका कारोबार ही रुक जाता है जो अगर कुछ वक़्त ले तो इन्हें कारोबार को बन्द करना होता है। अगर कारोबार कुछ समय बन्द रह जाये तो ये अपनी पूँजी को ही खाने लगते हैं और दोबारा कारोबार शुरू करना मुश्किल होता जाता है। काम बन्द होते ही इनके कामगार सड़क पर आ जाते हैं और उनके लिए भूखे मरने की नौबत आ जाती है। इसीलिए नोटबन्दी के कुछ दिन बाद से ही देश के हर कोने से – तिरुपुर का हौज़री, भिवण्डी-इछलकरंजी का पावरलूम, लुधियाना का साइकिल-हौज़री, आगरा का जूता-पेठा, फ़िरोज़ाबाद का काँच-चूड़ी, मुरादाबाद का बर्तन, बंगाल का जूट-चाय बाग़ान, बनारस-भदोही का साड़ी-क़ालीन, आदि हर तरफ़ से एक ही ख़बर है कि 50 से 70% तक कारोबार बन्द है, हर जगह लाखों मज़दूरों को काम पर ना आने के लिए कह दिया गया है।

लगभग 93% भारतीय श्रमिक असंगठित, अनौपचारिक क्षेत्र में काम करते हैं और इनकी पूरी आमदनी नक़दी में है। नक़दी के अभाव से इनके छोटे धन्धे बन्द हो रहे हैं या इनका रोज़गार छिन जा रहा है। इन मज़दूरों और छोटे कारोबारियों दोनों को ही इसकी वजह से या तो और भी कम मज़दूरी पर काम करने को मजबूर होना पड़ रहा है या अपना माल बड़े कारोबारियों को उनकी मनमानी क़ीमतों पर बेचकर नुक़सान उठाना पड़ रहा है। नहीं तो सूदखोरों के पास जाकर अपनी भविष्य की कमाई का एक हिस्सा सूद के रूप में उनके नाम लिख देने के साथ किसी तरह कुछ बचाकर इकट्ठा की गयी एकाध बहुमूल्य वस्तु गिरवी भी रखने की मज़बूरी है जो फिर वापस न आने की बड़ी सम्भावना है।

यही स्थिति गाँवों के छोटे-मध्यम किसानों की है। ये किसान अपनी एक फ़सल बेचकर जो नक़दी पाते हैं, उससे ना सिर्फ़ अपने परिवार के ख़र्च का इन्तज़ाम करते हैं बल्कि अगली फ़सल बोने का भी। इनके पास ऐसी क्षमता नहीं है कि वे अपनी फ़सल को कुछ समय भी रोक सकें। अब नोटबन्दी की वजह से नक़दी की कमी के बहाने धान, आलू, टमाटर, प्याज, सेव, कपास, आदि सभी फ़सलों की क़ीमतों में मण्डी के ख़रीदार आढ़तियों ने 40-50 फ़ीसदी तक की कमी कर दी है। इन हालात में इन्हें एक और तो अपनी ख़रीफ़ की फ़सल को नक़दी की कमी में औने-पौने दाम बेचने की मज़बूरी है, वहीं अगली फ़सल की बुआई के लिए साधन जुटाने वास्ते सूदखोरों से 30-50% के सूद पर क़र्ज़ लेना मज़बूरी है जिसके लिए खेत और गहने भी गिरवी रखे जाते हैं। धनी किसानों-कारोबारियों (यही सूद का धन्धा भी करते हैं) के अपने समर्थक वर्ग आधार की मदद करने के लिए सरकार ने सहकारी बैंकों/समितियों पर भारी रुकावटें भी लगा दी हैं क्योंकि इनसे कुछ मध्यम-छोटे किसानों को कुछ क़र्ज़ मिलता था, अब वह रास्ता भी बन्द हो गया है। इस प्रक्रिया में बहुत से ग़रीब किसान अपनी ज़मीनों से हाथ धो बैठेंगे। पिछले तीन वर्षों में खेती-किसानी के संकट और सूखे ने पहले ही कृषि ज़मीनों की क़ीमतों में भारी कमी कर दी है। कुछ क्षेत्रों में तो खेती लायक ज़मीनों की क़ीमतें 40% तक नीचे आयी हैं। ऐसे हालात में क़र्ज़ लेने वाले किसानों के लिए स्थिति और भी ख़राब होने वाली है, कम क़र्ज़ के लिए ज़्यादा खेत गिरवी तथा संकट की स्थिति में ज़मीन बेचने पर और कम क़ीमत मिलने की मज़बूरी। इस स्थिति में छोटे-मध्यम किसानों की ज़मीनों को इन धनी किसानों-कारोबारियों द्वारा ख़रीदकर उन्हें मज़दूर बनाने की प्रक्रिया में और भी तेज़ी आयेगी।

ऊपर से सरकार ने पुराने नोटों को बदलने के जो नियम बनाये हैं उसमें बहुत से ग़रीब लोग अपने थोडे से पुराने नोटों को बदलवाने में भी असमर्थ हैं। याद रखें कि अभी भी 5 करोड़ से ज़्यादा वयस्क लोगों के पास आधार या और कोई पहचान नहीं है। जनधन योजना में खुले 25 करोड़ खातों (जिनमें से 6 करोड़ में अभी भी शून्य राशि जमा है!) के बाद भी कुल जनसंख्या के मात्र 53% वयस्कों के बैंक खाते हैं। इनमें से भी 40 फ़ीसदी अर्थात हर 5 में से 2 खाते निष्क्रिय हैं अर्थात सालों से उनमें कोई गतिविधि नहीं हुई। असल में तो सिर्फ़ 15 फ़ीसदी खातों में ही लेन-देन होता है। कुल जनसंख्या के 60% लोग ऐसी जगहों पर रहते हैं जहाँ कोई बैंक शाखा नहीं है अर्थात ये लोग बैंक में कुछ करना चाहें तो इन्हें अपना काम-धन्धा छोड़कर मीलों चलकर जाना होता है। ऊपर से सरकार ने ग्रामीण क्षेत्रों में पाये जाने वाले सहकारी बैंकों को नोट बदलने से रोक दिया। अब तो 31 दिसम्बर तक पुराने नोट बदल पाने के अपने पहले ऐलान से मुकरकर सरकार ने 24 नवम्बर को ही नोट बदलने का काम बन्द कर दिया। इससे ज़ाहिर है कि बहुत सारे खाता-पहचान पत्र विहीन ग़रीब लोगों को अपने पुराने नोटों को बदलवा पाने में असमर्थ रहने पर अपने 500 के नोटों को 200-300 रुपये में बेचने पर मजबूर होना पड़ रहा है जो इनके लिए एक कमरतोड़ नुक़सान है। मेहनतकश लोगों में भी सबसे ज़्यादा शोषित मज़दूर स्त्रियाँ होती हैं जिन्हें श्रम के शोषण के साथ पुरुषवादी समाज का भी अत्याचार झेलना होता है। शराबी, अपराधी, ग़ैरज़िम्मेदार मर्दों से विवाहित स्त्रियों के लिए नक़दी के रूप में रखी कुछ छिपायी हुई रक़म मुसीबत के वक़्त का सहारा होती है। अब यह रक़म इनमें से ज़्यादातर के हाथ से निकल गयी है।

साथ ही जो नक़दी जनता के बड़े हिस्से को अपने छोटे कारोबारों की चालू पूँजी या वक़्त ज़रूरत की बचत को बैंकों में जमा करने के लिए मजबूर किया गया है उस पर बैंकों ने तुरन्त ही ब्याज़ दरें घटा दी हैं मतलब एक और नुक़सान! कुल मिलाकर देखें तो नोटबन्दी की पूरी प्रक्रिया में आम मेहनतकश जनता की थोडी बहुत सम्पत्ति का एक बडा हिस्सा उनके हाथ से निकलकर सम्पत्तिशाली तबक़े के हाथ में हस्तान्तरित हो जाने वाला है। भारत पहले ही एक बेहद असमानता वाला समाज है – 10% शीर्ष तबक़े के पास 81% सम्पत्ति है (इसमें भी 1% शीर्ष तबक़े के पास ही 58% सम्पदा है), जबकि नीचे के 50% के पास सिर्फ़ 2% सम्पत्ति है। ऐसे समाज में नोटबन्दी का नतीजा असमानता को और भी ज़्यादा बढ़ायेगा तथा निम्न मध्य तबक़े की 40% जनसंख्या को भी और ग़रीबी-कंगाली की ओर धकेलने की प्रक्रिया को और तेज़ करेगा। जहाँ तक इन कुछ बेहतर स्थिति वाले निम्न मध्यवर्गीय अर्द्ध श्रमिकों-छोटे कारोबारियों का सवाल है, उन्हें पहले ही घटते निर्यात और घरेलू माँग में कमी से कम होते निवेश की वजह से नौकरियों से हाथ धोना पड़ रहा है। अब नक़दी के अभाव से माँग और निवेश में मन्दी से यह प्रक्रिया और तेज़ होगी। एक अनुमान के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में एक फ़ीसदी की गिरावट से 20 लाख से ज़्यादा लोग बेरोज़गार होंगे। इस आधार पर सकल घरेलू उत्पाद दर में गिरावट के विभिन्न अनुमानों के आधार पर 50 लाख से 1 करोड़ लोग तक अपने रोज़गार से हाथ धो सकते हैं। और ज़्यादातर अर्थशास्त्रियों के अनुमानानुसार यह स्थिति सिर्फ़ कुछ महीने नहीं बल्कि एक साल या उससे भी ज़्यादा तक रह सकती है। इस ज़बरदस्ती लाद दी गयी बेरोज़गारी से अपनी थोड़ी सी जमा-पूँजी खोकर कंगाल हुए बहुत से मेहनतकश लोगों के लिए तो यह बदहाली स्थाई भी बन सकती है।

इसके विपरीत हम पूँजीपति और अमीर तबक़े की स्थिति पर नज़र डालते हैं। सस्ती ब्याज़ दरों पर जमा की रक़म से अब बैंक क़र्ज़ की ब्याज़ दरों को भी कुछ हद तक घटाया जा रहा है। यह क़र्ज़ कौन लेता है? बैंकों से क़र्ज़ का 80% हिस्सा पूँजीपतियों और उच्च मध्यम वर्ग के अमीरों द्वारा निवेश से और कमाई के लिए लिया जाता है। अब सस्ती ब्याज़ दरों से इन्हें तुरन्त इसका फ़ायदा होगा, उनकी पूँजी की लागत कम होने से मुनाफ़ा बढ़ेगा। दस बड़े पूँजीपति घरानों ने ही 7.3 लाख करोड़ रुपये बैंकों से क़र्ज़ लिया है। अगर ब्याज़ दर 0.1% भी कम हो तो इन्हें 730 करोड़ रुपये का लाभ होगा जो इन ग़रीब जमा करने वालों की जेब से आयेगा। इसीलिए यह सब पूँजीपति इसके समर्थन में खड़े हैं।

अब ज़मीन-मकान आदि सम्पत्ति की क़ीमतें कम होने के सवाल पर आते हैं। हमें समझना चाहिए कि क़ीमतें बढ़ने और कम होने दोनों चक्रों का फ़ायदा उसी तबक़े को होता है जिसके पास पूँजी, सूचना और पहुँच होती है। पिछले सालों में जिन बहुत से लोगों ने क़र्ज़ लेकर महँगी क़ीमतों पर ज़मीन-मकान ख़रीदे हैं अब नौकरियाँ-मज़दूरी कम होने की स्थिति में इनको ही कम क़ीमतों पर बेचने को मजबूर होना पड़ेगा न कि रियल एस्टेट के कारोबारियों को। बल्कि ये कारोबारी ही फिर से सस्ती क़ीमतों पर सम्पत्ति ख़रीदकर अगले क़ीमत वृद्धि चक्र में मुनाफ़ा कमाने की स्थिति में होंगे, न कि अमीर बनने के सपने देखते निम्न मध्य वर्गीय लोग। अमेरिका में वित्तीय संकट के दौरान यही हुआ था। निम्न मध्य वर्गीय लोगों ने क़र्ज़ लेकर जो घर महँगे दामों पर ख़रीदे थे, रोज़गार छिन जाने से जब उनकी किश्तें जमा ना हुईं तो बैंकों ने उन्हें अपने क़ब्ज़े में लेकर नीलाम कर दिया जिसे सम्पत्ति के कारोबारियों ने औने-पौने दामों ख़रीदा तथा अब फिर से इनकी क़ीमतें 2008 के स्तर पर आने से भारी मुनाफ़ा कमाया। डूबे क़र्ज़ सस्ते में ख़रीद कर मुनाफ़ा कमाने का भी एक बड़ा कारोबार है जिसके लिए कई कम्पनियाँ भारत में भी खड़ी हो चुकी हैं।

अब समझते हैं कि काला धन असल में होता क्या है, क्यों और कैसे पैदा होता है और इसका क्या किया जाता है। काले धन का अर्थ है ग़ैरक़ानूनी कार्यों तथा टैक्स चोरी से हासिल किया गया धन। इसको कुछ उदाहरणों से समझते हैं। पिछले दिनों ही बिजली उत्पादन करने वाली बड़ी कम्पनियों द्वारा 60 हज़ार करोड़ रुपये काला धन का मामला सामने आया था। इन कम्पनियों, जिनमें जिन्दल, अनिल अम्बानी और गौतम अडानी की कम्पनियाँ भी हैं, ने ऑस्ट्रेलिया से कोयला आयात किया लेकिन ऑस्ट्रेलिया की कम्पनी से सौदा इन कम्पनियों ने नहीं, बल्कि इनकी ही दुबई या सिंगापुर स्थित कम्पनियों ने किया, कहें कि 50 डॉलर प्रति टन पर और फिर अपनी इस कम्पनी से इन कम्पनियों ने यही कोयला मान लीजिये 100 डॉलर प्रति टन पर ख़रीद लिया। तो भारत से 100 डॉलर बाहर गया लेकिन ऑस्ट्रेलिया 50 डॉलर ही पहुँचा। बीच का 50 डॉलर दुबई/सिंगापूर में इनकी अपनी कम्पनी के पास ही रह गया – यह काला धन है! इससे इन कम्पनियों को क्या फ़ायदा हुआ? इनकी भारतीय कम्पनी ने ज़्यादा लागत और कम मुनाफ़ा दिखाकर टैक्स बचाया; लागत ज़्यादा दिखाकर बिजली के दाम बढ़वाये और उपभोक्ताओं को लूटा; कई बार घाटा दिखाकर बैंक का क़र्ज़ मार लिया जो बाद में आधा या पूरा बट्टे खाते में डाल दिया गया। ऐसे ही अडानी पॉवर ने दक्षिण कोरिया से मशीनरी मँगाने में 5 हज़ार करोड़ रुपया ज़्यादा का बिल दिखाकर इतना काला धन विदेश में रख लिया। आयात में की गयी इस गड़बड़ी को ओवर इन्वॉयसिंग या अधिक क़ीमत का फ़र्ज़ी बिल बनवाना कह सकते हैं। निर्यात में इसका उल्टा या अण्डर इन्वॉयसिंग किया जाता है अर्थात सामान ज़्यादा क़ीमत का भेजा गया और बिल कम क़ीमत का बनवा कर अन्तर विदेश में रख लिया गया। रिज़र्व बैंक ने अभी कुछ दिन पहले ही बताया कि 40 साल में इस तरीक़े से 170 खरब रुपया काला धन विदेश में भेज दिया गया।

विदेश में रख लिया गया यह काला धन ही स्विस बैंकों या पनामा जैसे टैक्स चोरी की पनाहगाहों में जमा होता है और बाद में घूम-फिरकर मॉरीशस आदि जगहों में स्थापित काग़ज़ी कम्पनियों के पी-नोट्स में लग जाता है और विदेशी निवेश के तौर पर बिना कोई टैक्स चुकाये भारत पहुँच जाता है। विदेशी निवेश को बढ़ावा देने के नाम पर भारत सरकार इस पर फिर से होने वाली कमाई पर भी टैक्स छूट तो देती ही है, यह हज़ारों करोड़ रुपया किसका है यह सवाल भी नहीं पूछती!

फिर देश के अन्दर भी विभिन्न तरह से काला धन पैदा होता है। जैसे बेलारी/गोवा आदि में लौह खनन करने वाले रेड्डी बन्धुओं जैसे माफ़िया कारोबारियों ने जितना लौह अयस्क निकालकर बेचा

(पेज 10 पर जारी)

नोटबन्दी: जनता की गाढ़ी कमाई से सरमायेदारों की तिजोरियाँ भरने का बन्दोबस्त

(पेज 9 से आगे)

उससे बहुत कम खातों में दिखाया और बाक़ी काले धन के रूप में रह गया। इसके अतिरिक्त किराये, निवेश और बॉण्ड आदि गतिविधियों (राजनेता, पुलिस, नौकरशाह) और आमदनी छुपाने के अनेक तरीक़ों (रियल एस्टेट कारोबारी, निजी अस्पताल, शिक्षा के सेठ) के ज़रिये भी काला धन बनाया जाता है। लेकिन कुछ अपवादस्वरूप कंजूस क़िस्म के व्यक्तियों को छोड़कर यह काला धन बैंक नोटों के रूप में नहीं रखा जाता बल्कि ज़मीन-मकान जैसी सम्पत्तियों, बहुमूल्य धातुओं, तथा क़िस्म-क़िस्म की कम्पनियाँ-ट्रस्ट-सोसायटी, आदि बनाकर और कारोबार में लगा दिया जाता है जिससे और भी कमाई होती रहे। इस धन को क़ानूनी बनाने के अनेक उपाय हैं, इसमें इन्हें टैक्स वकीलों, चार्टर्ड एकाउण्टेण्टों और ख़ुद सरकारी अमले की मदद भी मिलती है। इन तरीक़ों का इस्तेमाल करते हुए छुटभैयों (काग़ज़ों पर चलने वाली अनेक खैराती संस्थाएँ यही काम करती हैं) से लेकर बड़ी मछलियाँ तक करों की छूट वाले देशों के ज़रिये भारत में सीधे विदेशी निवेश के रूप में वापस ले आती हैं। ग़ैरक़ानूनी धन पैदा करने और चलाने के इन उपायों पर नोटबन्दी का कोई असर नहीं पड़ेगा।

उपरोक्त से यह तो साफ़ ही है कि घरों में नोटों के ढेर न लगाकर, बैंकों के ज़रिये ही यह काला या चोरी का धन विभिन्न कारोबार में लग जाता है। अनेक विश्लेषकों ने बख़ूबी दिखाया है कि पिछली छापामारी के आँकड़े दिखाते हैं कि सिर्फ़ 5% काला धन ही नक़दी (जिसमें जेवर भी शामिल हैं) के रूप में रहता है। इसलिए नोटबन्दी से कालाधन वाले असली कारोबारियों को न तो कुछ नुक़सान होने वाला है न ही इनका काले धन का चोरी का कारोबार रुकने वाला है। अगर इनके पास तात्कालिक ज़रूरत के लिए कुछ नोट इकट्ठा हों भी तो भी वर्तमान व्यवस्था में राजनेताओं, अफ़सरों, पुलिस, वित्तीय व्यवस्था में इनका रुतबा और पहुँच इतनी गहरी है कि उन्हें खपाने में इन्हें कोई ख़ास दिक़्क़त नहीं आती। कुछ कमीशन - सुविधा शुल्क देकर उनके काले धन को ठिकाने लगाने में इन्हें कोई तक़लीफ़ पेश आने वाली नहीं है।

जहाँ तक पूँजीवादी तबक़े की मीडिया और विश्लेषकों का सवाल है, वे इसे अस्थाई तक़लीफ़ के बाद टैक्स चोरी पर रोक लगने के तर्क से उचित ठहरा रहे हैं। लेकिन अगर टैक्स चोरी को ही रोकना है तो वोडाफ़ोन का 20 हज़ार करोड़ का टैक्स (केर्न, वेदान्ता, आदि भी हैं) इस सरकार ने माफ़ क्यों किया? अभी साढ़े चार हज़ार करोड़ के बग़ैर नियम के टैक्स छूट को सीएजी ने उजागर किया, वह कैसे? विदेशी निवेशकों और पी-नोट्स के पैसे पर टैक्स छूट क्यों? इन सब बड़े टैक्स चोरों को पकड़ने में क्या ऐतराज़ है? अगर वर्तमान शासकों को काला धन वास्तव में ही ज़ब्त करना या बन्द करना होता तो ऊपर दिये गये उदाहरणों वाले कारोबारियों की जाँच करते, उसमें पैदा काले धन का पता लगाते और उसे ज़ब्त कर इनको सज़ा दिलवाते। लेकिन सब सामने होते हुए भी इन मामलों में कुछ न कर पुराने नोटों को बन्द कर नये चलाने की नौटंकी से काले धन और भ्रष्टाचार से लड़ने की नौटंकी की जा रही है। असल में तो शासन में बैठे लोग इस पूँजीपति वर्ग के ही प्रतिनिधि हैं और उनके धन से ही चुनाव लड़कर सत्ता प्राप्त कर उनकी सेवा करते हैं तो उनसे इनके ख़िलाफ़ कोई क़दम की उम्मीद करना ही बेमानी है। अब जबकि इस नौटंकी की पोल खुलने लगी है तो आयकर विभाग द्वारा छापे मारकर काला धन पकड़ने का प्रचार शुरु किया गया है लेकिन हमें जानना चाहिए कि यह छापामारी आयकर विभाग का एक नियमित कार्य है जिसको प्रचारित कर काले धन के ख़िलाफ़ लड़ने का यह छद्म प्रचार ही चल रहा है। अगर यह करने से ही काला धन निकलने वाला था तो इसके लिए पूरे देश की जनता को परेशन किये बग़ैर 2 साल पहले ही किया जा सकता था। लेकिन ऐसा करने का कोई वस्तविक इरादा नहीं है, नहीं तो कई लाख करोड़ के टैक्स डिफॉल्टरों और बैंक क़र्ज़ दबाये बैठे पूँजीपतियों की सम्पत्ति क्यों नहीं ज़ब्त कर ली जाती?

इनको राहत देने के लिए तो पहले एक 45 फ़ीसदी टैक्स वाली स्कीम आयी थी काला धन बाहर लाने वाली; मोदी-जेतली जोड़ी ने ख़ुद ही वाहवाही भी कर ली थी कि 65 हज़ार करोड़ का काला धन घोषित हो गया। अब उसमें से 24 हज़ार करोड़ के दावे तो फ़र्ज़ी निकल आये हैं तथा ऐसे ही और भी निकल सकते हैं। फिर नोटबन्दी आयी; इस बार कहा गया 5 लाख करोड़ काली कमाई नष्ट कर देगा मोदी जी का ब्रह्मास्त्र! यह सब रिज़र्व बैंक सरकार को देगा जिससे मोदी जी देश में अच्छे दिन ला देंगे। अब पूरा एक महीना अभी बाक़ी है और बस 3 लाख करोड़ ही बाहर बचा है। यह तीर भी ख़ाली गया। अब फ़िफ़्टी-फ़िफ़्टी का फ़ार्मूला लाया गया है मामले को सँभालने के लिए। लगता है कि आखिर के दिनों में इसमें भी बड़ी रक़म घोषित होने के ऐलान होंगे, चाहे बाद में फ़र्ज़ी ही निकलें! इससे फिर प्रचार किया जायेगा कि मोदी जी की सख्ती से सब काले धन वाले डर गये और खुद ही बाहर आ गये। इसीलिए आजकल इनकम टैक्स की रेड में नोट और सोना बरामदगी की कहानियाँ ख़ूब प्रचारित हो रही हैं। थोड़ी अधिक उम्र वाले जिन लोगों को इमरजेंसी की थोड़ी याद होगी वो जानते हैं कि उस दौरान भी रेडियो/अख़बार में इनकम टैक्स छापों या सूदखोरों के पकड़े जाने की ख़बरें भरी होती थीं। वैसे इनकम टैक्स में एक डिपार्टमेण्ट ही है जिसका काम ही साल भर यह छापे मारना है, उसमें से कुछ ख़बरें रोज़ छपवाना कोई बड़ी बात नहीं। लेकिन जिस तरह से यह प्रचार चल रहा है उससे मोदी की ग़रीबों के लिए काली कमाई वाले अमीर लोगों के ख़िलाफ़ जान की बाजी लगाकर लड़ने वाली इमेज के लिए ज़रूरी है कि किसी तरह यह दिखाना कि बड़ी मात्रा में काला धन ज़ब्त हुआ है।

यह आम तजुर्बे और ज्ञान का विषय है कि जहाँ भी अफ़सरशाही के नियन्त्रण में जीवन की गतिविधि आती हैं उसमें बेईमानी और कालाबाज़ारी बढ़ती ही जाती है। यह नियन्त्रण केरोसिन तेल पर हो या चीनी, सीमेण्ट या सोने या रुपये पर हो, नतीजा यही होता है। इसलिए नोटबन्दी से पैदा की गयी मुद्रा की नक़ली कमी से भी कालाबाज़ारी का एक बड़ा और नया धन्धा खड़ा होना ही था, जो अब हम सबके सामने है। लेकिन इन छापों में करोड़ों पकड़े जाने से यह धन्धा बन्द नहीं होता। इससे तो निजी गिरोहों द्वारा शुरू किये जाने वाले इस धन्धे में पुलिस-अफ़सरशाही-जजों और उनके ज़रिये राजनीतिक तन्त्र - सरकार की हिस्सेदारी और तालमेल स्थापित होता है। ऐसे ही सरकारी तन्त्र से लेकर निजी कारोबारियों और अपराधी गिरोहों की साँठ-गाँठ की गिरोहबन्दी पूरे प्रशासनिक-आर्थिक-राजनीतिक ताने-बाने को अपने नियन्त्रण में लेती है। अभी आयकर-पुलिस की जो छापेमारी चल रही है, मोदी जी जो चेतावनी जारी कर रहे हैं, उसका इंगित यही है - काला धन्धा करना है तो हमसे बचकर नहीं कर पाओगे! हमारा हिस्सा, चुनाव के समय हमारी मदद, सामाजिक गतिविधियों पर नियन्त्रण के लिए गुण्डा दल की व्यवस्था और रसद-पानी - यह सब करो तभी कर पाओगे। और यह कोई पहली बार नहीं हो रहा है, इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में ठीक यही काम कांग्रेस एक ज़माने में कर चुकी है। हाँ, अब वाला फासीवादी शासक गिरोह उससे भी अधिक नियन्त्रण स्थापित करना चाहता है।

वे भारत को भ्रष्टाचार और गन्दे धन से मुक्त कराने का दावा करते हैं। उनके सत्ता में आने के लिए वोट मिलने की वजहों में से एक पिछली संप्रग दो सरकार के दौरान घोटालों की लहर भी थी, जिसका कारगर तरीक़े से इस्तेमाल करते हुए उन्होंने देश को पारदर्शी बनाने और 'बहुत कम सरकारी दख़ल के साथ अधिकतम प्रशासन' का वादा किया था। वे अपना आधा कार्यकाल बिता चुके हैं और उनके शासन में ऊँचे क़िस्म के भ्रष्टाचार की फ़सल भरपूर लहलहाती हुई दिख रही है। भ्रष्टाचार के मुहाने यानी राजनीतिक दल अभी भी अपारदर्शी हैं और सूचना का अधिकार के दायरे से बाहर हैं। 'पनामा लिस्ट' में दिये गये 648 काले धन वालों के नाम अभी भी जारी नहीं किये गये हैं। उनकी सरकार ने बैंकों द्वारा दिये गये 1.14 लाख करोड़ रुपये के कॉरपोरेट क़र्ज़ों को नन-परफ़ॉर्मिंग असेट्स (एनपीए) कहकर माफ़ कर दिया है। सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों का एनपीए 11 लाख करोड़ है, लेकिन कॉरपोरेट लुटेरों के ख़िलाफ़ कोई भी कार्रवाई नहीं की जा रही है। कॉरपोरेट अरबपतियों का सीधा कर बकाया 5 लाख करोड़ से ऊपर चला गया है, लेकिन मोदी ने कभी भी इसके ख़िलाफ़ ज़ुबान तक नहीं खोली। पिछले दशक के दौरान उनको करों से छूट 40 लाख करोड़ से ऊपर चली गयी, जिसकी सालाना दर मोदी के कार्यकाल के दौरान 6 लाख करोड़ को पार कर चुकी है, जो संप्रग सरकार के दौरान 5 लाख करोड़ थी। मोदी अपने आप में कॉरपोरेट भ्रष्टाचार के भारी समर्थक रहे हैं, जो ग़ैरक़ानूनी धन का असली जन्मदाता है।

यहाँ तक कि यह भी सन्देह किया जा रहा है कि नोटबन्दी में भी भारी भ्रष्टाचार हुआ है। इस फ़ैसले को लेकर जो नाटकीय गोपनीयता बरती गयी, वह असल में लोगों को दिखाने के लिए थी। इस फ़ैसले के बारे में भाजपा के अन्दरूनी दायरे को पहले से ही पता था, जिसमें राजनेता, नौकरशाह और बिज़नेसमेन शामिल हैं। इसको 30 सितम्बर को ख़त्म होने वाली तिमाही के दौरान बैंकों में पैसे जमा करने में आने वाली उछाल में साफ़-साफ़ देखा जा सकता है। विभिन्न राज्यों से ख़बरें आ रही हैं कि भाजपा ने नोटबन्दी के पहले के महीनों में बड़े पैमाने पर ज़मीन-मकान ख़रीदे। इसमें इस्तेमाल होने वाले धन का स्रोत क्या था? ख़बरों के मुताबिक़ भाजपा की पश्चिम बंगाल ईकाई ने घोषणा से कुछ घण्टों पहले अपने बैंक खाते में कुल 3 करोड़ रुपए जमा किये। एक भाजपा नेता ने नोटबन्दी के काफ़ी पहले ही 2000 रुपये के नोटों की गड्डियों की तस्वीरें पोस्ट कर दी थी और एक डिजिटल पेमेण्ट कम्पनी ने 8 नवम्बर 2016 की रात 8 बजे होने वाली घोषणा की अगली सुबह एक अख़बार में नोटबन्दी की तारीफ़ करते हुए पूरे पन्ने का विज्ञापन प्रकाशिक कराया। असल में, नोटबन्दी ने बन्द किये गये नोटों को कमीशन पर बदलने का एक नया धन्धा ही शुरू कर दिया है। इसलिए इसमें कोई हैरानी नहीं है कि ट्रांसपेरेंसी इण्टरनेशनल द्वारा भारत की रैंकिंग में मोदी के राज में कोई बदलाव नहीं आया है जो 168 देशों में 76वें स्थान पर बना हुआ है।

जहाँ तक नक़ली नोटों का रोक लगने का सवाल है अब तो ख़ुद सरकार ने भी इसकी बात करनी कम कर दी है क्योंकि 'द हिन्दू' और 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (11 नवम्बर 2016) की रिपोर्ट के अनुसार NIA जैसी केन्द्रीय एजेंसियों और भारतीय सांख्यिकी संस्थान, कोलकाता (ISI) के अनुसार हर वर्ष 70 करोड़ रुपये के नक़ली नोट प्रचलन में आते हैं और देश में कुल नक़ली करेंसी की मात्रा 400 करोड़ रुपये या 10 लाख नोटों में 250 नोट आँकी गयी है। अब इसको ख़त्म करने के लिए पूरी करेंसी को बदलने पर 15-20 हज़ार करोड़ रुपये ख़र्च करना अगर मूर्खता भी नहीं तो अविवेकी फ़ैसला तो कहा ही जायेगा जैसे सड़क पर चींटी मारने के लिए रोड रोलर चलाना! वैसे रिज़र्व बैंक का यह भी कहना है कि छापने की जल्दी के कारण इन नये नोटों में कोई सुरक्षा उपाय नहीं जोड़े जा सके। मतलब इनके नक़ली नोट छापना और भी आसान होगा। इसीलिए नये नोट बाज़ार में आने के चन्द दिनों के अन्दर ही इनके नक़ली नोट भी बड़ी मात्रा में देश के विभिन्न कोनों से पकड़े जाने शुरू हो गये हैं।

वर्तमान पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्था का आधार ही मेहनतकशों के श्रम द्वारा उत्पादित मूल्य को हथियाकर अधिकतम मुनाफ़ा और निजी सम्पत्ति इकट्ठा करना है, जिसमें एक और आधी से ज़्यादा सम्पत्ति के मालिक 1% लोग हैं और दूसरी और ग़रीब लोगों की बहुसंख्या। इतनी भयंकर असमानता और शोषण वाले समाज में न भ्रष्टाचार ख़त्म हो सकता है न अपराध। इनको ख़त्म करने के लिए तो पूँजीवाद को ही समाप्त करना होगा। हाँ, वास्तविक समस्याओं से जनता का ध्यान हटाने के लिए ऐसे नाटक दुनिया भर में बहुत देशों में पहले भी ख़ूब हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। ख़ास तौर पर मोदी सरकार जो विकास, रोज़गार, आदि के बड़े वादे कर सत्ता में आयी थी जो बाद में सिर्फ़ जुमले निकले, उसके लिए एक के बाद एक ऐसे कुछ मुद्दे और ख़बरें पैदा करते रहना ज़रूरी है जिससे उसके समर्थकों में उसका दिमाग़ी सम्मोहन टूटने न पाये क्योंकि असलियत में तो इसके आने के बाद भी जनता के जीवन में किसी सुधार-राहत के बजाय और नयी-नयी मुसीबतें ही पैदा हुई हैं। इससे काला धन/भ्रष्टाचार/अपराध/आतंकवाद ख़त्म हो जायेगा – यह कहना शेखचिल्ली के क़िस्से सुनाने से ज़्यादा कुछ नहीं।

जहाँ तक कैशलेस लेन-देन का सवाल है, अब जबकि सरकार को यह स्वीकार करना पड़ा है कि अवैध घोषित सब नोट वापस बैंक में जमा हो जाने वाले हैं और जनता को बेहद तक़लीफ़ देने के बाद भी लगभग नगण्य काला धन बाहर आयेगा तो मोदी ने नया राग अलापना शुरू कर दिया है कि वह देश में कैशलेस व्यवस्था लाना चाहते हैं। तर्क दिया जा रहा है कि नक़दी के बजाय डिजिटल लेन-देन बढ़ने से रिकॉर्ड रहेगा, खातों में पारदर्शिता बढ़ेगी, भ्रष्टाचार और काला धन कम होगा, इससे ज़्यादा टैक्स वसूल होगा, जिसे सरकार समाज कल्याण के कार्यों पर ख़र्च करेगी।

जहाँ तक कैश के कम इस्तेमाल से काला धन कम होने का सवाल है, यह बात सही है कि आम लोगों द्वारा किये गये लेन-देन का रिकॉर्ड रहेगा लेकिन इससे काले धन के कारोबारियों पर रोक लगेगी ऐसा कोई अर्थशास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत बग़ैर कैश के भी काला धन पैदा होने के बहुत से उदाहरण हैं। जैसे, शेयरों के सट्टाबाज़ार स्टॉक एक्सचेंज का काम-काज पूरी तरह 'कैशलेस' होता है। फिर भी काले धन का यह प्रमुख अड्डा है, सबसे ज़्यादा स्कैम, घपले, ठगी, आदि यहीं होती है। 1995 के हर्षद मेहता गिरोह ने तो पूरे बैंकिंग सिस्टम के ही घुटने टिकवा दिये थे। 2001 में केतन पारीख गिरोह ने फिर से बैंकिंग सिस्टम को तगड़ा झटका दिया था। पर इन दोनों ने कैश क़तई इस्तेमाल नहीं किया था,

(पेज 7 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की विरासत और इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों की चुनौतियाँ

(पिछले अंक के सम्पादकीय लेख की समापन कड़ी)

अक्टूबर क्रान्ति की महान विरासत के प्रति आज हमारा नज़रिया क्या होना चाहिए? क्या हम अक्टूबर क्रान्ति का आँख बन्द करके अनुसरण कर सकते हैं जिस तरह हमारे देश में कुछ कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आँखें मूँदकर चीनी क्रान्ति की नक़ल करने का प्रयास कर रहे हैं? नहीं! क्रान्तियों का दुहराव नहीं होता और न ही उनकी कार्बन कॉपी की जा सकती है। मज़दूर वर्ग की हर नयी पीढ़ी अपने पुरखों द्वारा किये गये प्रयोगों का नीर-छीर-विवेक करती है और उनसे एक आलोचनात्मक रिश्ता क़ायम करती है। वह उनसे सकारात्मक और नकारात्मक शिक्षा लेती है और नये दौर में बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार नयी क्रान्तियों की रणनीति और आम रणकौशल निर्मित करती हैं। तो फिर **आज हम अक्टूबर क्रान्ति की विरासत से किस प्रकार सीख सकते हैं? इसके लिए हम संक्षेप में इस बात की चर्चा करेंगे कि लेनिन और स्तालिन ने अक्टूबर क्रान्ति की विशिष्टता के बारे में क्या कहा था।**

लेनिन ने उन विशिष्ट राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का ज़िक्र किया था जिसमें कि अक्टूबर 1917 में रूसी समाजवादी क्रान्ति हो सकी। लेनिन का कहना था कि विशेष तौर पर दो परिस्थितियाँ उस समय अक्टूबर क्रान्ति के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार थीं। पहली परिस्थिति थी - प्रथम विश्व युद्ध द्वारा रूस में पैदा आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संकट। दूसरी परिस्थिति थी - देश में स्वतःस्फूर्त रूप से मज़दूर सोवियतों का जाग उठना और साथ ही भूमि कमेटियों द्वारा ज़मीनों पर क़ब्ज़े और कारख़ाना समितियों द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़े की मुहिम का शुरू होना। इन परिस्थितियों में बोल्शेविक पार्टी को एक ऐसे देश में मज़दूर वर्ग की अगुवाई करते हुए सत्ता अपने हाथों में लेनी पड़ी जिसमें मज़दूरों की आबादी कुल आबादी का मात्र 10-11 प्रतिशत था जबकि किसान आबादी कुल आबादी का क़रीब 85 फ़ीसदी थी। अभी भूमि सुधार व अन्य जनवादी कार्य भी अधूरे थे। अगर बोल्शेविक पार्टी उस समय ऐसा न करती तो फिर जनवादी क्रान्ति की हत्या कर दी जाती और साथ ही समाजवादी क्रान्ति की सम्भावना भी लम्बे समय के लिए समाप्त हो जाती। समझा जा सकता है कि ये दोनों परिस्थितियाँ अक्टूबर क्रान्ति को विशिष्ट बनाती हैं। इस विशिष्टता को समझना बेहद ज़रूरी है।

स्तालिन ने 1924 में **'अक्टूबर क्रान्ति और रूसी कम्युनिस्टों की कार्यनीति'** नामक अपने लेख में रूसी क्रान्ति की विशिष्ट परिस्थितियों की विस्तार से चर्चा की। आज मज़दूर क्रान्तिकारियों को उसे अवश्य समझना चाहिए ताकि हम रूसी क्रान्ति के अन्धानुकरण के आधार पर इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों की रणनीति व आम रणकौशल न तैयार करें। स्तालिन एक प्रकार से आने वाली पीढ़ी के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों को ऐसे ख़तरे के प्रति अप्रत्यक्ष रूप से आगाह करते हुए नज़र आते हैं। स्तालिन लिखते हैं कि जिन तीन बाह्य परिस्थितियों ने रूसी क्रान्ति की मदद की वे इस प्रकार हैं: (1) साम्राज्यवादी युद्ध (प्रथम विश्व युद्ध) जिसने दो प्रमुख साम्राज्यवादी गुटों (ब्रिटेन-फ्रांस व जर्मनी-ऑस्ट्रिया) को रूस में सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर ध्यान देने का मौक़ा ही नहीं दिया; (2) साम्राज्यवादी युद्ध ने रूस में मेहनतकश अवाम के धैर्य की आख़िरी सीमा का इम्तेहान ले लिया था और लोग युद्ध से बुरी तरह से थक चुके थे और उनकी समझ में आने लगा था कि युद्ध से निजात पाने का एक ही रास्ता है - समाजवादी क्रान्ति; (3) यूरोप में एक मज़बूत मज़दूर वर्ग का आन्दोलन मौजूद था और जर्मनी समेत कई देशों में क्रान्तिकारी परिस्थिति निर्मित हो रही थी (जो रूस के अतिरिक्त नेतृत्वकारी पार्टियों की ग़लतियों के कारण क्रान्ति में तब्दील नहीं हो सकीं) जिनके कारण रूसी क्रान्ति को कई देशों में अपने शक्तिशाली मित्र मिल गये थे।

इन तीन बाह्य परिस्थितियों के अतिरिक्त छह आन्तरिक कारक थे जिन्होंने बोल्शेविक क्रान्ति को सम्भव बनाया जो इस प्रकार थे: (1) बोल्शेविकों को मज़दूर वर्ग का भारी समर्थन प्राप्त था; (2) भूमि और शान्ति के प्रश्न पर क्रान्तिकारी अवस्थिति के कारण पार्टी को किसानों और सैनिकों का समर्थन हासिल था; (3) अक्टूबर क्रान्ति में मज़दूर वर्ग को नेतृत्व देने के लिए एक तपी-तपायी, अनुभवी, अनुशासित और मँझी हुई कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद थी; (4) अक्टूबर क्रान्ति का सामना एक कमज़ोर पड़ चुके शत्रु से था – रूस का पूँजीपति वर्ग अभी नया-नया सत्ता में आया था और अभी पूँजीवादी राज्यसत्ता अपने आपको सुदृढ़ नहीं कर पायी थी; वह कुछ शहरों और औद्योगिक केन्द्रों में ही प्रभावशाली थी; किसान बग़ावतों के कारण पूँजीवादी भूस्वामियों की सत्ता में भी दरारें पड़ चुकी थीं और जो बुर्जुआ व निम्न-बुर्जुआ पार्टियाँ आरज़ी सरकार में थीं, वे भूमि और शान्ति के प्रश्न पर समझौतापरस्ती और ग़द्दारी कर रही थीं; (5) रूसी साम्राज्य विशालकाय था और उसके कोनों-अन्तरों तक एक युवा बुर्जुआ राज्यसत्ता की पहुँच नहीं थी जिसके कारण क्रान्तिकारियों को मुक्त रूप दाँव-पेच करने, ज़रूरत पड़ने पर पीछे हटने और सुस्ताने और फिर नये आक्रमण की तैयारी का ज़्यादा मौक़ा मिला; (6) प्रतिक्रान्तिकारियों के ख़िलाफ़ और साम्राज्यवादियों द्वारा घेरेबन्दी के ख़िलाफ़ टिक पाने के लिए बुरे हालात होते हुए भी सोवियत रूस के पास काम चलाने योग्य खाद्यान्न आपूर्ति व अन्य संसाधन मौजूद थे।

आगे स्तालिन दो प्रतिकूल परिस्थितियों का ज़िक्र करते हैं जो इस प्रकार थीं: (1) अक्टूबर क्रान्ति ने सोवियत रूस के रूप में दुनिया की पहली समाजवादी सत्ता की स्थापना की और उस समय दुनिया में कोई अन्य समाजवादी राज्य मौजूद नहीं था जिस पर बोल्शेविक समाजवादी निर्माण के लिए निर्भर रह सकते थे। इसने सोवियत सत्ता को सापेक्षिक अलगाव में डाल रखा था; (2) रूसी जनता में सर्वहारा वर्ग एक छोटी-सी अल्पसंख्या था और विशिष्ट परिस्थितियों में रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ निर्मित हो गयी थीं जिसके कारण उसे रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार करने पड़े और खेती में समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की स्थापना के लिए लम्बा इन्तज़ार करना पड़ा। उसके बाद भी बेहद कठिनाइयों और जटिलताओं का सामना करते हुए खेती में समाजवादी सम्बन्धों की स्थापना हो सकी; साथ ही, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कई छूटे कार्यभारों को पूरा करने के कारण भी समाजवादी क्रान्ति और निर्माण को आगे बढ़ने में कई बाधओं का सामना करना पड़ा। इन्हीं विशिष्टताओं के कारण रूसी क्रान्ति की स्तालिन के अनुसार दो चारित्रिक आभिलाक्षणिकताएँ थीं: पहली, यह कि यह क्रान्ति मज़बूत मज़दूर-किसान संश्रय के आधार पर ही सम्पन्न हो सकती थी जिसमें कि व्यापक किसान जनसमुदायों का नेतृत्व एक अल्पसंख्यक सर्वहारा वर्ग को करना था और दूसरी यह कि यह एक देश में समाजवाद के निर्माण और सर्वहारा अधिनायकत्व पर आधारित थी, जो कि किसान बहुसंख्या वाला एक पिछड़ा देश था जिसमें बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के भी कई कार्यभार अधूरे पड़े थे। यूरोप के अन्य देशों, विशेषकर जर्मनी में, क्रान्तियों के असफल हो जाने के कारण रूसी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण का रास्ता बेहद जटिल और मुश्किल हो गया था।

स्तालिन द्वारा बतायी गयी इन विशिष्टताओं और आभिलाक्षणिकताओं के कारण ही लेनिन ने कहा था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करना तो आसान है, लेकिन उसे टिका पाना ज़्यादा मुश्किल और जटिल है। जबकि अपेक्षाकृत उन्नत और औद्योगीकृत देश जहाँ सर्वहारा वर्ग विशाल है, जैसे कि जर्मनी या फ्रांस, वहाँ क्रान्तियों को अंजाम देना ज़्यादा मुश्किल होगा लेकिन एक बार यदि समाजवादी क्रान्ति हो गयी तो इन देशों समाजवादी निर्माण का रास्ता अपेक्षाकृत सुगम होगा। इसका कारण यह है कि इन देशों में सर्वहारा वर्ग आबादी में एक प्रमुख हिस्सा बन चुका था, खेती का पूँजीवादी रूपान्तरण मुख्यतः और मूलतः क्रान्तिकारी या ग़ैर-क्रान्तिकारी रूप से पूरा हो चुका था, देश में उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर ऊपर पहुँच चुका था और अन्य जनवादी कार्यभार भी मुख्यतः और मूलतः पूरे हो चुके थे; देश के सर्वहारा वर्ग के पास संगठन और संघर्ष का अपेक्षाकृत लम्बा अनुभव था और उसकी राजनीतिक चेतना का स्तर अपेक्षाकृत रूप से ऊपर था। इन उन्नत पूँजीवादी देशों में बुर्जुआ राज्यसत्ता के सामाजिक आधार अपेक्षाकृत ज़्यादा व्यापक थे, बुर्जुआ वर्ग के पास शासन चलाने का लम्बा अनुभव था और उसकी राज्यसत्ता की पहुँच समाज के भीतर ज़्यादा गहराई तक थी। यही कारण था कि इस ज़्यादा कुशल, ज़्यादा अनुभवी और ज़्यादा संगठित बुर्जुआ वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के विरुद्ध क्रान्ति को अंजाम देना रूस जैसे पिछड़े पूँजीवादी देश के मुकाबले ज़्यादा मुश्किल था। लेकिन एक बार क्रान्ति को अंजाम देने पर ऊपर बताये कारणों के चलते उसे टिका पाना और समाजवादी निर्माण अपेक्षाकृत ज़्यादा सुगम होता। रूसी क्रान्ति के साथ एक त्रासदी यह घटित हुई कि यूरोप के अपेक्षाकृत उन्नत पूँजीवादी देशों में कई जगहों पर क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ निर्मित होने के बावजूद सर्वहारा वर्ग क्रान्ति संगठित नहीं कर सका। इसके कारण, रूस में मज़दूर सत्ता और समाजवाद को कोई मज़बूत मित्र नहीं मिल सका। ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियों में एक देश में समाजवाद का निर्माण करना ही एक स्तालिन के नेतृत्व में एक चमत्कारिक सफलता के समान था। लेकिन रूसी क्रान्ति की इन विशिष्ट प्रतिकूल व अनुकूल दोनों ही प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण उसका इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है और इसी कारण से उसका अनुकरण करना सम्भव ही नहीं है।

लेनिन ने कहा था कि साम्राज्यवाद और इजारेदार पूँजीवाद के दौर में सर्वहारा क्रान्तियों का तूफ़ान केन्द्र यूरोप के उन्नत पूँजीवादी देशों से खिसककर एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिकी देशों की ओर आ रहा है। जब यह हो रहा था तो पूर्व और पश्चिम के सेतु पर, यानी रूस (जिसे कि यूरेशिया भी कहा जाता है) में, सर्वहारा वर्ग ने अन्तरविरोधों की एक गाँठ बनने की विशिष्ट स्थिति सर्वहारा क्रान्ति कर डाली और पहली समाजवादी सत्ता की स्थापना की। इस प्रयोग की ऐतिहासिक महत्ता, उसकी विशिष्टता और साथ ही उसकी ऐतिहासिक सीमाओं के विषय में हम बात कर चुके हैं। **आज के दौर में क्रान्तियों का तूफ़ान केन्द्र पूरी तरह से उन देशों में आ चुका है जिन देशों का ग़ुलामी का इतिहास है।** लेनिन ने बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कहा था कि इन देशों में (जो कि उस समय गुलाम या आधे गुलाम थे) दो चरणों में क्रान्ति सम्पन्न होगी: पहले सर्वहारा वर्ग समूचे किसान वर्ग को साथ लेकर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद-विरोधी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति करेगा और फिर ग़रीब किसान आबादी को साथ लेकर पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति करेगा। 1970 के दशक के अन्त तक एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के अधिकांश देश राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र हो चुके थे हालाँकि आर्थिक तौर पर उनकी साम्राज्यवाद पर निर्भरता बनी हुई थी। आज के भूमण्डलीकरण के दौर में यह आर्थिक निर्भरता एक नये रूप में सामने है, लेकिन राजनीतिक तौर पर भारत, मिस्र, टर्की, इण्डोनेशिया, ब्राज़ील, अर्जेण्टीना, आदि जैसे देशों में पूँजीपति शासक वर्ग ने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता को कायम रखा है। किन्हीं विशिष्ट दौरों में इसकी साम्राज्यवाद पर आर्थिक निर्भरता इसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता पर हावी होते हुए दिखती है, लेकिन मूलतः और मुख्यतः वह राजनीतिक तौर पर स्वतन्त्र ही है। इन देशों का पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का (किसी एक साम्राज्यवादी देश का नहीं, बल्कि अलग-अलग साम्राज्यवादी गुटों से मोलभाव करते हुए समूचे साम्राज्यवाद का) 'जूनियर पार्टनर' है। यह साम्राज्यवादी देशों पर तकनोलॉजी और पूँजी के लिए निर्भर है ताकि अपने देश के मज़दूर वर्ग का ज़्यादा कुशलता से शोषण कर सके और बदले में वह साम्राज्यवादी देशों के लिए अपने बाज़ारों के दरवाज़े खोलता है। साम्राज्यवादी देश भी बाज़ारों और प्रत्यक्ष निवेश के अवसरों के लिए इन देशों पर निर्भर हैं क्योंकि इनके पास एक विशाल उपभोक्ता मध्यवर्ग है।

इन तमाम अपेक्षाकृत रूप से पिछड़े हुए पूँजीवादी देशों में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध के ज़्यादा से ज़्यादा कुछ अवशेष बचे हैं। क्रान्तिकारी तरीक़े से (राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति व रैडिकल भूमि सुधार) या फिर ग़ैर-क्रान्तिकारी तरीक़े से (सामन्ती भूस्वामियों को ही पूँजीवादी कुलक व फ़ार्मर बनने का मौक़ा देने वाला प्रशियाई पथ वाला भूमि सुधार) इन देशों में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध मुख्यतः और मूलतः समाप्त हो चुके हैं। जिन देशों में यह प्रक्रिया ग़ैर-क्रान्तिकारी ढंग से हुई है उनमें सामन्ती अवशेष देर तक मौजूद रहे और जब वे ख़त्म भी हो गये तो खेती में पिछड़ापन बना रहा, जो कि कई कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध की मौजूदगी का भ्रम पैदा करता रहा। मगर आज तो कोई अन्धा और पैर को जूते के नाप से काटने पर आमादा कठमुल्लावादी कम्युनिस्ट ही कह सकता है कि भारत में खेती में सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध हैं। स्पष्ट है कि इन सभी भूतपूर्व ग़ुलाम देशों में एक विशिष्ट प्रकार का अपेक्षाकृत रूप से पिछड़ा हुआ पूँजीवाद विकसित हुआ है। इन देशों में उद्योगों का अच्छा-ख़ासा विकास हुआ है, अवसंरचनागत ढाँचा भी ठीक-ठाक विकसित हुआ है, मज़दूर आबादी कुल आबादी के क़रीब 40 से 50 प्रतिशत तक पहुँच रही है, शहरीकरण की रफ़्तार तेज़ है और 2020 तक इनमें से अधिकांश देशों में आबादी का बहुलांश शहरी हो जायेगा। ऐसे में, स्पष्ट है कि इन देशों में अब मुख्य अन्तरविरोध खेती से लेकर उद्योग तक में श्रम और पूँजी के बीच है। ऐसे में, इन देशों में पूँजीवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आ चुकी है।

लेकिन साथ ही यह भी सच है कि इन देशों की स्थिति रूस से काफ़ी भिन्न है। रूस की स्थिति स्वयं एक दूसरी क़तार के साम्राज्यवादी देश की थी। वह ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका से पीछे होते हुए भी पूर्वी यूरोप व बाल्कन देशों के लिए एक साम्राज्यवादी देश ही था।

(पेज 12 पर जारी)

अक्टूबर क्रान्ति की विरासत और इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियों की चुनौतियाँ

(पेज 11 से आगे)

लेकिन भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया, टर्की, ब्राज़ील जैसे देश अभी साम्राज्यवादी नहीं कहे जा सकते हैं। निश्चित तौर पर, इन उभरती अर्थव्यवस्थाओं की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं और अपने कुछ पड़ोसियों के बीच इनकी स्थिति एक उभरती साम्राज्यवादी शक्ति जैसी बनती है। लेकिन फिर भी विश्व पैमाने पर इन्हें अभी साम्राज्यवादी नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इन देशों पर अभी स्वयं अमेरिकी, जापानी और यूरोपीय संघ के साम्राज्यवाद की लूट का दबाव है। ऐसे में, इन देशों की एक जटिल स्थिति बनती है। मुख्य तौर पर, इन देशों की जनता अभी भी यानी कि आज़ादी के बाद भी साम्राज्यवाद के आर्थिक शोषण और उत्पीड़न का शिकार है और ये साम्राज्यवादी शोषण अब देशी पूँजी के साथ मिलकर, अक्सर नत्थी होकर होता है। ऐसे में, साम्राज्यवाद के साथ इन देशों की जनता का अन्तरविरोध कोई सुदूर अतीत की बात नहीं है, बल्कि एक तात्कालिक महत्व की बात है। यह कहा जा सकता है कि इन देशों में जो समाजवादी क्रान्तियाँ अपेक्षित हैं, वे महज़ पूँजीवाद-विरोधी नहीं बल्कि पूँजीवाद-विरोधी साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तियाँ होंगी। इस तौर पर ये गुणात्मक रूप से एक नये प्रकार की समाजवादी क्रान्तियाँ होंगी और इस नयी विशिष्टता के कारण क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल में कुछ अहम बदलाव अपेक्षित हैं।

एक अन्य बड़ा परिवर्तन भी आज हमारे सामने है। जैसा कि हमने लेनिन और स्तालिन के लेखन के ज़रिये देखा, रूस में पूँजीवादी राज्यसत्ता अभी बेहद कमज़ोर थी, बुर्जुआ वर्ग का शासन अभी सुदृढ़ीकृत नहीं हो पाया था और युद्ध ने उसे और भी ज़्यादा कमज़ोर और खोखला बना दिया था, और तभी सर्वहारा वर्ग ने अपनी हिरावल पार्टी के नेतृत्व चोट की और बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस कर अपनी राज्यसत्ता की स्थापना कर दी थी। यह राज्यसत्ता कुछ शहरों में सीमित थी और रूस जैसे विशाल देश के सुदूर अंचलों में इसकी पकड़ अभी तक मज़बूत नहीं हुई थी। समूची रूसी आबादी में इस राज्यसत्ता का सामाजिक आधार बेहद सीमित था। आबादी में पाँच-छह प्रतिशत से ज़्यादा लोग इस नवजात बुर्जुआ सत्ता के समर्थक नहीं थे। आज ऐसी स्थिति नहीं है। मिसाल के तौर पर हमारे ही देश में आज बुर्जुआ राज्यसत्ता के सामाजिक अवलम्ब की भूमिका निभाने वाले वर्गों की आबादी कुल आबादी का क़रीब 15 से 20 प्रतिशत है। बड़े पूँजीपति वर्ग, छोटे पूँजीपति वर्ग, नौकरशाह वर्ग, शेयर बाज़ार के दलालों से लेकर प्रापर्टी डीलरों जैसे बिचौलियों के वर्ग, छोटे व बड़े व्यापारियों के टटपुंजिया वर्ग और साथ ही खाते-पीते मँझोले किसानों और धनी किसानों के समूचे वर्ग की जनसंख्या को जोड़ दिया जाये तो वह आबादी का पन्द्रह से बीस फ़ीसदी बैठता है। नतीजतन, आज की पूँजीवादी राज्यसत्ता की सामाजिक जड़ें ज़्यादा गहरी हैं। इसकी राजनीतिक और प्रशासनिक जड़ें भी ज़्यादा गहरी हैं। आज की पूँजीवादी राज्यसत्ता कुछ प्रमुख शहरों या औद्योगिक केन्द्रों तक सीमित नहीं है बल्कि गाँव पंचायत के प्रधान से लेकर, लेखपाल, तहसीलदार, ब्लॉक डेवलपमेण्ट ऑफ़िसर, पार्षद, विधायक से लेकर सांसद तक इसकी नसें और शिराएँ गाँव, मुहल्लों और बस्तियों तक फैली हुई हैं। इसकी सैन्य ताक़त की पहुँच कुछ मिनटों के भीतर देश के हर कोने तक है। संक्षेप में, **यह राज्यसत्ता समाज और राजनीतिक ताने-बाने से अलग-थलग ऊपर से थोपी हुई चीज़ नहीं है, बल्कि देश के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक ताने-बाने में गुँथी हुई है। इसलिए यहाँ पर उस सुगमता के साथ क्रान्ति सम्पन्न नहीं हो सकती जिस सुगमता के साथ रूस में समाजवादी क्रान्ति हुई थी और यहाँ क्रान्ति को काफ़ी अलग रास्तों से होकर गुज़रना होगा।**

लेकिन इससे परेशान होने की बात नहीं है क्योंकि **रूसी क्रान्ति की तुलना में एक बहुत बड़ा सकारात्मक भी आज की नयी समाजवादी क्रान्ति के पक्ष में खड़ा है।** रूस में समाजवादी क्रान्ति के समय कुल आबादी में मज़दूर वर्ग का हिस्सा मुश्किल से 10 से 12 प्रतिशत था। यानी क्रान्ति का मुखर और निस्सन्देह समर्थन करने वाला हिस्सा आबादी का कुल 10 से 12 प्रतिशत ही था। किसानों की व्यापक आबादी को अपने साथ लेने के लिए बोल्शेविक पार्टी को रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार के कार्यक्रम को अपनाना पड़ा था। यह इच्छा का प्रश्न नहीं था। यह उस समय इतिहास द्वारा उपस्थित अनिवार्यता थी। किसानों की व्यापक आबादी इसके बिना क्रान्ति के पक्ष में नहीं खड़ी होती। रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधारों ने दूरगामी तौर पर रूस में समाजवादी निर्माण के समक्ष एक चुनौती और जटिलता भी खड़ी कर दी थी। क्योंकि क्रान्ति के बाद समाजवादी मज़दूर सत्ता के लिए खेती में समाजवादी साझी खेती के उत्पादन सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए बेहद कठिन परिस्थितियों और जटिलताओं का सामना करना पड़ा था। आज की नयी समाजवादी क्रान्ति के समक्ष यह चुनौती नहीं है। देश में ज़मीन के मालिक किसानों की कुल संख्या आबादी का मात्र 27 प्रतिशत है। इस 27 प्रतिशत का भी दो-तिहाई से ज़्यादा हिस्सा अर्द्धसर्वहारा की स्थिति में है क्योंकि उसके पास इतनी छोटी या ग़ैर-कमाऊ जोत है कि उसके परिवार के सदस्यों को दूसरे के खेतों में या फिर औद्योगिक केन्द्रों में जाकर मज़दूरी करनी पड़ती है। वास्तव में उनकी घर की अर्थव्यवस्था मुख्यतः अब खेती से नहीं चलती बल्कि उजरती श्रम यानी मज़दूरी से चलती है। वे मुख्यतः मज़दूर बन चुके हैं और एक छोटी-सी जोत का मालिकाना महज़ उन्हें औपचारिक तौर पर ग़रीब किसान के रूप में बनाये हुए है। निश्चित तौर पर, इससे उसकी सर्वहारा चेतना कुन्द होती है। मगर फिर भी एक बात तय है कि उसके धनी किसानों, कुलकों व खाते-पीते मँझोले किसानों से वर्ग अन्तरविरोध स्पष्ट और तीखे होते जा रहे हैं और मज़दूर वर्ग से उसी मात्रा में उनकी निकटता भी बढ़ती जा रही है। अगर मज़दूर आबादी पर निगाह डालें तो वह क़रीब 55 करोड़ के आस-पास है। इसमें से क़रीब 33 करोड़ ग्रामीण मज़दूर हैं, जबकि क़रीब 20 से 22 करोड़ शहरी व औद्योगिक मज़दूर हैं। यह वह आबादी है जो शुद्ध रूप से सर्वहारा वर्ग की आबादी कही जा सकती है। अगर हम इस ग्रामीण और शहरी सर्वहारा वर्ग को ग़रीब किसान, ग्रामीण व शहरी अर्द्धसर्वहारा आबादी, और निम्न मध्यवर्गीय आबादी के साथ जोड़ दें तो आज उनकी आबादी 80 करोड़ से ऊपर बैठती है। संक्षेप में, **आज भारत और भारत जैसे अन्य देशों की स्थिति 1917 के रूस से काफ़ी भिन्न है। यदि राज्यसत्ता के सामाजिक अवलम्बों का विस्तार हुआ है, तो उससे भी तेज़ गति से समाजवादी क्रान्ति के मित्र वर्गों का विस्तार हुआ है। इन बदली हुई परिस्थितियों के कारण यह कहा जा सकता है कि आज के दौर की नयी समाजवादी क्रान्तियाँ ज़्यादा कठिन रास्तों से गुज़रेगी मगर सफल होने के बाद उनके टिकने और अपेक्षाकृत सुगम समाजवादी निर्माण की सम्भावना ज़्यादा है।** हमारे देश में जनवादी क्रान्ति के छूटे-फटेक कार्यभार 1917 के रूस के मुकाबले कहीं कम हैं। आज की नयी समाजवादी क्रान्ति के समक्ष व्यापक किसान आबादी को साथ लेने के लिए रैडिकल भूमि सुधार के कार्यक्रम को अपनाने की कोई विवशता नहीं है। अव्वलन को ख़ुदकाश्त किसानों की आबादी ही पूरी जनसंख्या में काफ़ी कम हो गयी है और उनमें भी परिधिगत किसान या अर्द्धसर्वहारा आबादी का हिस्सा दो-तिहाई से भी ज़्यादा है। नतीजतन, ग्रामीण व खेतिहर आबादी के बड़े हिस्से को साझी खेती पर सहमत करना अपेक्षाकृत रूप से आसान काम होगा। यह ज़रूर है कि अगर कोई कम्युनिस्ट ताक़त आज भी उनमें ज़मीन की भूख पैदा करने में आमादा हो जाये, तो यह भूख पैदा की जा सकती है। ज़मीन का मालिकाना निजी सम्पत्ति का सबसे आदिम रूप है और इसके प्रति अपील पैदा करना पिछड़ी किसान आबादी में समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में सम्भव है। दूसरे शब्दों में, यदि आज देश में आर्थिक तौर पर खेतिहर आबादी के समक्ष समाजवादी खेती का कार्यक्रम उचित कार्यक्रम है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि समूची खेतिहर आबादी स्वतःस्फूर्त तौर पर राजनीतिक रूप से इसके लिए तैयार बैठी हुई है और कम्युनिस्टों का इन्तज़ार कर रही है! इसका यह अर्थ भी नहीं है कि समाजवादी खेती के कार्यक्रम को पेश किये जाने पर वह उसका विरोध करेगी! इसका यह अर्थ है कि उन्हें आज समाजवादी भूमि कार्यक्रम पर ज़्यादा आसानी के साथ राजी किया जा सकता है क्योंकि छोटी-सी जोत उन्हें क्या दे सकती है, ये वे देख चुके हैं। वे समझ सकते हैं कि साझी खेती की व्यवस्था के ज़रिये ही उन्हें ग़रीबी, बेरोज़गारी और भूख से निजात मिल सकती है। लेनिन इस बात को अच्छी तरह समझते थे आर्थिक तौर पर किसान आबादी के विभेदीकरण और साझी खेती के लिए आर्थिक तौर पर उनके तैयार होने का यह अर्थ नहीं होता कि वह स्वतःस्फूर्त तौर पर राजनीतिक रूप से समाजवादी साझी खेती के लिए तैयार बैठी है। आर्थिक तौर पर विभेदीकरण के बाद भी किसान आबादी को कम्युनिस्ट पार्टी साझी समाजवादी खेती के लिए तैयार करती है और वे इसी रूप में तैयार हो सकते हैं। भारत में आज ऐसी स्थिति है कि किसानों की व्यापक बहुसंख्या, यानी ग़रीब किसानों को, इसके लिए तैयार किया जा सकता है। इस रूप में भी इक्कीसवीं सदी की नयी समाजवादी क्रान्तियाँ जिन देशों में सम्भावित हैं, वहाँ की सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ 1917 के रूस से काफ़ी भिन्न हैं। इनके कारण भी इन समाजवादी क्रान्तियों का चरित्र, स्वरूप और पथ रूसी समाजवादी क्रान्ति से काफ़ी भिन्न होगा।

हम यहाँ पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व पूँजीवाद की कार्यप्रणाली में आये बदलावों की विस्तार में चर्चा नहीं कर सकते और आगे हम अलग से 'मज़दूर बिगुल' में लिखेंगे। लेकिन अभी इतना कहना पर्याप्त होगा कि 1945 के बाद से विश्व पूँजीवादी व्यवस्था के काम करने के तरीक़े में कुछ अहम बदलाव आये हैं जिनके कारण समाजवादी क्रान्तियों की कार्यनीतियों में भी कुछ बदलाव आने लाज़िमी हैं। इन परिवर्तनों में प्रमुख इस प्रकार हैं - उत्तर-फोर्डवाद (यानी एकीकृत कारख़ाने को छोटी-छोटी इकाइयों में तोड़कर मज़दूर आबादी को कार्यस्थल पर बिखरा देना; आज यह वैश्विक पैमाने पर हो रहा है), मज़दूर आबादी का पहले बड़े पैमाने पर औपचारिकीकरण (1945 से 1970) और फिर उससे भी बड़े पैमाने पर अनौपचारिकीकरण, वित्तीय और विशेष तौर पर सट्टेबाज़ पूँजी के अधिपत्य और कार्यप्रणाली में लेनिन के समय के मुकाबले अभूतपूर्व बदलाव, सूचना तकनोलॉजी, परिवहन व संचार के क्षेत्रा में हुई क्रान्ति के चलते पूँजी के चलने के तरीक़े और गति में भारी परिवर्तन, आज के साम्राज्यवाद और पूँजीवाद द्वारा मीडिया व प्रचार तन्त्रा का व्यापकतम, सूक्ष्मतम और कुशलतम उपयोग और संस्कृति के क्षेत्रा का वर्ग संघर्ष के पहले से ज़्यादा प्रमुख क्षेत्र के रूप में सामने आना, आदि। अभी हम इन परिवर्तनों पर चर्चा नहीं करेंगे और आगे के अंकों में हम अक्टूबर क्रान्ति के शताब्दी वर्ष के दौरान इन मुद्दों पर विस्तार से लिखेंगे। अभी बस इतना कहा जा सकता है कि आज की विश्व पूँजीवादी व्यवस्था आज से सौ या सत्तर साल पुरानी विश्व पूँजीवादी व्यवस्था से काफ़ी अलग है। इसे अगर गुणात्मक नहीं तो महत्वपूर्ण परिमाणात्मक परिवर्तन तो अवश्य ही कहा जा सकता है। ऐसे में, क्रान्तियों की भी वे रणनीतियाँ और आम रणकौशल तथा पथ पुराने पड़ गये हैं, जिन पर बीसवीं सदी की क्रान्तियों ने अमल किया था। उपरोक्त परिवर्तनों का अध्ययन करते हुए और उन्हें समझते हुए आज मज़दूर वर्ग को नयी रणनीतियाँ, रणकौशल व पथ ईजाद करने होंगे, यहाँ तक कि क्रान्ति से पहले भी उसे अपने आर्थिक व राजनीतिक संघर्षों के नये रूपों को ईजाद करना ही होगा।

बहरहाल, इन सभी परिवर्तनों के मद्देनज़र हम मानते हैं कि बीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों विशेषकर अक्टूबर क्रान्ति की तुलना में इक्कीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियों में परिवर्तन का पहलू प्रधान है और इसीलिए इस परिवर्तन के पहलू को रेखांकित करने और उसे दृष्टिओझल होने से बचाने के लिए हम इसे नयी समाजवादी क्रान्ति कहते हैं। इनमें भी किसी भी समाजवादी क्रान्ति के समान मूलतः तीन वर्गों (मज़दूर वर्ग, ग़रीब व निम्न मँझोला किसान वर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग) का मोर्चा ही बनेगा। लेकिन इसका स्वरूप और इसकी प्रक्रिया अक्टूबर क्रान्ति से काफ़ी भिन्न होगी, जिसके कारणों की हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

आज अक्टूबर क्रान्ति की महान विरासत को याद करने की शिद्दत से ज़रूरत है क्योंकि मज़दूर वर्ग का बड़ा हिस्सा आज पस्तहिम्मत है और निराशा में भी है। वह जानता भी नहीं है कि उसके पुरखों ने मज़दूरों का राज कायम किया था और ऐसे चमत्कारी प्रयोग किये थे जिनके बारे में पढ़कर आज भी आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता है। अन्त में उन प्रयोगों की असफलता और उसके कारणों को भी समझने की ज़रूरत है। लेकिन इस महान क्रान्ति से प्रेरणा और ताक़त लेते हुए, इससे सकारात्मक और नकारात्मक शिक्षा लेते हुए यह ध्यान रखना होगा कि इस क्रान्ति की विरासत भी मानो हमसे यही कह रही है: **"मुझसे सीखो! मेरी उपलब्धियाँ और मेरी ग़लतियों, दोनों से सीखो! लेकिन मेरी नक़ल मत करो! मेरा अन्धानुकरण मत करो! अपने देश-काल की विशिष्टताओं को समझो और उसके मुताबिक़ मेरे नये संस्करणों को रचने की तैयारी करो! मेरी विराट छाया में नयी जनक्रान्ति के अंकुरों और कोंपलों को कुम्हलाने मत दो! मुझसे सबक लो और इस सबक के लिए समय और स्थान दोनों ही पैमानों पर मुझसे दूरी ज़रूरी है। तभी अक्टूबर के नये संस्करण रचे जा सकेंगे।"** आज हमें इस सन्देश को समझना होगा और भावी नयी समाजवादी क्रान्ति की तैयारी में जुट जाना होगा। अभी बहुत काम बाक़ी है, बहुत लम्बा रास्ता तय करना है। इसलिए एक पल की भी देरी एक गम्भीर भूल होगी।

सजेंगे फिर नये लश्कर
मचेगा रणमहाभीषण
उठो संग्रामियो जागो! नयी शुरुआत करने का समय फिर आज रहा है
कि जीवन को चटख़ गुलनार करने का समय फिर आ रहा है।

भाण्डवलशाहों (पूँजीपतियों) की साज़िश को पहचानो! शासक वर्गों द्वारा मेहनतकशों की जातिगत गोलबन्दी का विरोध करो! अपने असली दुश्मन को पहचानो!

— अभिनव सिन्हा

कोपर्डी में एक मराठा लड़की के जघन्य बलात्कार व हत्या के बाद पूरे महाराष्ट्र में शासक वर्गों ने मराठा मोर्चे निकाले। नासिक समेत कई स्थानों पर दलित आबादी पर हमले किये गये। मराठों के कुलीन वर्ग व राजनीतिज्ञों ने इस घटना का इस्तेमाल मेहनतकश जनता की जातिगत गोलबन्दी के लिए किया। महाराष्ट्र में बढ़ती बेरोज़गारी, कृषि संकट, ग़रीबी व महँगाई के विरुद्ध बढ़ते जनअसन्तोष को मेहनतकश आबादी की जातिगत गोलबन्दी का रूप दिया जा रहा है। इसके जवाब में अस्मितावादी राजनीति करने वाले दलित राजनीतिज्ञों ने जवाबी दलित मोर्चे निकालने शुरू किये हैं। इन दोनों ही कारकों के चलते आम मेहनतकश जनता का गुस्सा आपस में एक-दूसरे के ऊपर फूट रहा है, जबकि इसका असली कारण बढ़ती बेरोज़गारी और कृषि संकट है। इसके लिए ज़िम्मेदार पूँजीपति वर्ग और पूरी पूँजीवादी व्यवस्था बच निकल रही है। शासक वर्गों की इस साज़िश को समझने के लिए महाराष्ट्र के सामाजिक-आर्थिक हालात पर एक निगाह डालना आवश्यक है।

महाराष्ट्र में आम मेहनतकश आबादी की हालत

2013 में महाराष्ट्र में बेरोज़गारी की दर रोज़गार एक्सचेंज के अनुसार 4.5 प्रतिशत पहुँच चुकी थी। ग़ौरतलब है, ये आँकड़े अधूरी सच्चाई बताते हैं क्योंकि ये रोज़गार एक्सचेंज में पंजीकृत बेरोज़गारों की संख्या ही बताते हैं, जबकि अधिकांश बेरोज़गार इन कार्यालयों में पंजीकरण कराते ही नहीं हैं। 2008 में केवल 45.9 प्रतिशत लोगों के पास नियमित वेतन वाले रोज़गार थे। 2012 में काम करने योग्य हर 1000 लोगों में से 32 से ज़्यादा लोग बेरोज़गार थे। ये सभी आँकड़े दो वर्ष या उससे पहले के हैं, जबकि महाराष्ट्र में बेरोज़गारी मुख्य तौर पर पिछले 2 साल में तेज़ी से बढ़ी है। खेती का संकट पिछले दो दशकों में भयंकर रफ़्तार से बढ़ा है। सरकारों की नवउदारवादी नीतियों के चलते छोटे और मँझोले किसान तेज़ी से तबाह हुए हैं। भूमिहीन मज़दूरों की संख्या में, जिनमें क़रीब आधी आबादी दलितों की है, तेज़ी से बढ़ोत्तरी हुई है। यह आबादी गाँवों में सबसे भयंकर हालात में जी रही है। कोऑपरेटिवों का भी तेज़ी से पतन हुआ है। दलित व आदिवासी आबादी समेत मराठों की भी ज़बरदस्त बहुसंख्या आज कृषि के संकट, बढ़ती बेरोज़गारी और महँगाई की बुरी तरह शिकार है।

मराठा आबादी की हालत : पाँच प्रमुख वर्ग और उनकी स्थिति

मराठा आबादी प्रदेश की 33 प्रतिशत है। इस मराठा आबादी में से 200 कुलीन और अति-धनाढ्य मराठा परिवारों का आज प्रदेश के लगभग सारे मुख्य आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता के केन्द्रों पर क़ब्ज़ा है। मराठा आबादी में सबसे ऊपर यह कुलीन वर्ग है जो सीधे सत्ता के केन्द्रों पर क़ब्ज़ा रखता है। इनमें नेता, मन्त्री (जो अक्सर स्वयं बड़े पूँजीपति भी होते हैं), विभिन्न आयोगों के अध्यक्ष, तमाम कोऑपरेटिव बैंकों के बोर्ड मेम्बर, शुगर कोऑपरेटिवों के बोर्ड मेम्बर, ज़िला परिषदों के सदस्य से लेकर ग्राम पंचायत के प्रधानों तक शामिल हैं। इनके ठीक नीचे मराठा आबादी का दूसरा वर्ग है - धनी किसान वर्ग या "बगायती" वर्ग जो नक़दी फ़सलें पैदा करता है और गाँवों का पूँजीपति वर्ग है। यह वर्ग यदि सत्ता के प्रतिष्ठानों पर सीधी पकड़ नहीं भी रखता तो यह महाराष्ट्र का एक प्रमुख राजनीतिक प्रेशर ग्रुप है, जिसका नीति-निर्माण पर असर है। इसके नीचे आने वाला मराठों का तीसरा वर्ग है, मँझोले किसानों का जो न तो पूरी तरह आबाद हैं और न ही पूरी तरह बरबाद। ये अनिश्चितता में जीते हैं और अपनी खेती में काफ़ी हद तक मौसम-बारिश जैसे प्राकृतिक कारकों और सरकारी नीतियों पर निर्भर होते हैं। ये धनी किसानों की जीवन शैली की नक़ल करते हैं और जब ऐसा करने में आर्थिक तौर पर नाकामयाब होते हैं, तो हताशा और रोष का शिकार होते हैं। ये सूदखोरों और बैंकों से छोटे क़र्ज़ लेते हैं और उनकी वापसी न कर पाने और सूदखोरों या बैंकों द्वारा तंग किये जाने पर भी कई बार आत्महत्याएँ करते हैं। मँझोले किसानों के इस वर्ग का निचला हिस्सा तेज़ी से खेतिहर मज़दूरों की क़तार में भी शामिल हुआ है। इसके नीचे आने वाला चौथा वर्ग है ग़रीब मराठा किसान जो कि केवल खेती से जीविकोपार्जन नहीं कर पाते और उनका अच्छा-ख़ासा हिस्सा बड़े किसानों के खेतों पर मज़दूरी भी करता है। इसकी स्थिति काफ़ी हद तक खेतिहर मज़दूरों जैसी होती है। ये अपने बच्चों को स्तरीय शिक्षा नहीं दिला सकते। शहरी रोज़गारों के लिए शहर प्रवास के दरवाज़े इनके लिए बन्द ही होते हैं। इनमें शैक्षणिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन बुरी तरह व्याप्त है। पाँचवाँ वर्ग सबसे ग़रीब मराठा आबादी का यानी खेतिहर मज़दूरों का है जो दूसरे के खेतों पर मज़दूरी करने या फिर सरकार की रोज़गार गारण्टी योजनाओं पर निर्भर रहने को बाध्य हैं। यह आबादी सबसे भयंकर ग़रीबी में जीवन-व्यापन कर रही है।

लुब्बेलुबाब यह कि मराठा आबादी का ऊपर 15 से 20 प्रतिशत आज प्रदेश के सभी आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार जमाये हुए है। मराठा आबादी का क़रीब 80 प्रतिशत हिस्सा मज़दूर वर्ग, निम्न मध्यवर्ग, ग़रीब किसानों व खेतिहर मज़दूरों का है। इस 80 फ़ीसदी आबादी का जीवन कांग्रेस-एनसीपी सरकार और साथ ही भाजपा-शिवसेना सरकार के दौरान लगातार बद से बदतर होता गया है। कांग्रेस-एनसीपी सरकार के दौरान हताश इस मराठा आबादी के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से ने "अच्छे दिनों" की आस में भाजपा सरकार को वोट दिया था। लेकिन "अच्छे दिनों" का इन्तज़ार कभी ख़त्म न हुआ। उल्टे और भी ज़्यादा बुरे दिन आ गये। पिछले 2 वर्षों में देश भर में बेरोज़गारों की तादाद में 2 करोड़ की बढ़ोत्तरी हुई है। इसका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा महाराष्ट्र में खेती के संकट के बढ़ने और बेरोज़गारी के बेलगाम होने के कारण बढ़ा है। संयुक्त राष्ट्र की एक हालिया रपट के अनुसार अब महाराष्ट्र में बेरोज़गारी दर गुजरात और उत्तर प्रदेश से भी ज़्यादा हो गयी है। जीवन के असुरक्षित और जीविकोपार्जन के अनिश्चित होते जाने के साथ 80 फ़ीसदी आम मेहनतकश मराठा आबादी में असन्तोष और रोष तेज़ी से बढ़ा है, जो कि आज प्रदेश के हुक्मरानों के लिए चिन्ता का विषय बन गया था।

बढ़ते वर्ग अन्तरविरोधों को दबाने के लिए जातिगत गोलबन्दी का सहारा

ऐसे में, मराठा शासक वर्ग ने मराठा ग़रीब आबादी के बढ़ते असन्तोष को ग़लत दिशा में मोड़ने का बार-बार प्रयास किया। चूँकि आम मराठा आबादी में भी जातिगत पूर्वाग्रह और ब्राह्मणवादी विचारधारा का प्रभाव मौजूद रहा है, इसलिए उसके गुस्से को जातिगत रंग देने की एक ज़मीन पहले से मौजूद रही है। इन जातिगत पूर्वाग्रहों और ब्राह्मणवादी विचारधारा के विरुद्ध आज सतत संघर्ष की आवश्यकता है। लेकिन यह भी याद रखना ज़रूरी है कि यह संघर्ष हमें अस्मितावादी राजनीति की ज़मीन पर खड़े होकर नहीं बल्कि वर्गीय राजनीति की ज़मीन पर खड़े होकर करना होगा। सवर्णवादी पूँजीवादी राज्यसत्ता और ग़रीब मेहनतकश दलित आबादी के बीच का अन्तरविरोध एक दुश्मनाना अन्तरविरोध है। लेकिन उसी प्रकार मेहनतकश जनता के बीच मौजूद जातिगत पूर्वाग्रहों को यदि दुश्मनाना अन्तरविरोध की तरह हल करने का प्रयास किया जायेगा तो यह अस्मिताओं के टकराव की ओर ले जायेगा जो कि दोनों ही अस्मिताओं को और ज़्यादा रूढ़ और कठोर बनायेगा। यह अन्ततः व्यापक मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता को जातीय समीकरण बिठाकर राजनीति करने वाली ब्राह्मणवादी ताक़तों और साथ ही अस्मितावादी दलित राजनीति करने वाली ताक़तों के हाथों का मोहरा बना देगा। इन ब्राह्मणवादी हुक्मरानों और रामदास आठवले जैसे अस्मितावादी दलित राजनीति करने वाले हुक्मरानों के बीच जो अन्तरविरोध हैं, वे दुश्मनाना नहीं है। मूलतः वे दोनों ही हुक्मरानों की जमात से ही आते हैं। यह ज़रूर है कि हमेशा की तरह हुक्मरानों की बीच भी राजनीतिक सत्ता और संसाधनों के बँटवारे को लेकर जूतम-पैजार होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि वे जनता के समक्ष बँटे होते हैं। जैसे ही जनता के बीच बेरोज़गारी, ग़रीबी, महँगाई आदि जैसी समस्याओं के कारण वर्गीय गोलबन्दी की सम्भावना-सम्पन्नता पैदा होती है, वैसे ही ये दोनों ही ताक़तें अस्मितावादी राजनीति का तुरूप का पत्ता फेंकती हैं और जनता को आपस में बाँट देती हैं। चूँकि शासक वर्ग की विचारधारा हर युग की शासक विचारधारा होती है, इसलिए जनता के बीच भी अस्मितावादी और ब्राह्मणवादी राजनीति का असर मौजूद होता है और जातिगत पूर्वाग्रह मौजूद रहते हैं और ये शासक वर्गों को मौक़ा देते हैं कि वे मेहनतकश जनता के बीच जातिवादी वैमनस्य पैदा कर उन्हें बाँट दें। मौजूदा मराठा मोर्चों के पीछे भी यही गतिकी काम कर रही है। ऐसे दौर में, यह तथ्य भी दर्ज किया जाना चाहिए नासिक में हुए दलित-विरोधी हमलों के दौरान कुछ मौक़ों पर आम मराठा आबादी ने भी दलित परिवारों को बचाने का प्रयास किया। ये थोड़े-से और बिखरे हुए उदाहरण इस सम्भावना की ओर इशारा करते हैं कि यदि क्रान्तिकारी शक्तियाँ व्यापक मेहनतकश आबादी में जातिगत पूर्वाग्रहों के विरुद्ध वर्गीय ज़मीन पर खड़े होकर दृढ़ता से, समझौताविहीन और दीर्घकालिक संघर्ष करे तो ब्राह्मणवादी विचारधारा की जकड़बन्दी पर चोट की जा सकती है, क्योंकि इसकी सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नता आम मेहनतकश आबादी में मौजूद है। यह ज़रूर है कि बिना सचेतन क्रान्तिकारी प्रचार के यह सम्भावना हमेशा सुषुप्त ही बनी रहेगी। यह स्वतःस्फूर्त तरीक़े से होना मुश्किल है।

कोपर्डी की घटना के बाद मराठा शासक वर्गों को वैमनस्य भड़काकर जातिगत गोलबन्दी करने का एक अवसर मिल गया। कोई भी कोपर्डी की घटना का विरोध करेगा और आरोपियों को उचित दण्ड देने की हिमायत करेगा। तमाम दलितों ने स्वयं इस घटना की निन्दा की और दोषियों को सज़ा दिलाने की माँग उठायी। लेकिन मराठा शासक वर्ग ने मराठा मेहनतकश आबादी के गुस्से को इस घटना को आधार बनाकर दलित-विरोधी दिशा दे दी। यह मुद्दा उठा दिया गया कि दलित उत्पीड़न रोधी क़ानून को भंग किया जाये क्योंकि इसका दलितों द्वारा दुरुपयोग होता है और साथ ही मराठा आबादी को आरक्षण दिया जाये। इसके बाद इन माँगों को लेकर आम मेहनतकश मराठा आबादी में भी एक लहर पैदा की गयी और उसके बाद मूक मोर्चों का सिलसिला शुरू हुआ। कहने के लिए ये मूक मोर्चे पूर्णतः "ग़ैर-राजनीतिक" थे और इसमें मराठा क्रान्ति दल, सम्भाजी ब्रिगेड, मराठा स्वाभिमान सेना आदि जैसे संगठनों ने भूमिका निभायी, लेकिन सभी जानते हैं कि इसके पीछे काफ़ी हद तक एनसीपी, कांग्रेस, शिवसेना और भाजपा की मराठा लॉबी शामिल हैं। यही कारण है कि इनमें से कई पार्टियों पर जब इन मराठा मोर्चों को हवा देने का आरोप लगा तो उन्होंने इसका खण्डन तक नहीं किया।

वास्तव में, आज प्रदेश में ग़रीब मराठा आबादी के व्यवस्था-विरोधी गुस्से और मराठा शासक वर्ग से उसके अन्तरविरोधों को दबाने के लिए उनके बीच अस्मितावाद को बढ़ावा देकर मराठा आरक्षण देने व दलित उत्पीड़न रोधी क़ानून को ख़त्म करने की माँग उठायी जा रही है। इन माँगों में कोई दम नहीं है। कुनबी आबादी को पहले ही ओबीसी में शामिल करके आरक्षण दिया गया था। इसी के आधार पर मराठों के लिए आरक्षण को विस्तारित करने की माँग उठायी जा रही है। दलित आबादी का एक बेहद छोटा-सा हिस्सा आरक्षण के चलते कुछ लाभ पाकर शिक्षा व रोज़गार में कुछ स्थान पा सका है। लेकिन अब इसका कोई ख़ास लाभ दलित आबादी को भी नहीं मिल रहा है क्योंकि सरकारी नौकरियाँ ही पैदा नहीं हो रही हैं। नवउदारवादी नीतियों के तहत लगातार निजीकरण किया जा रहा है जिसके कारण बची-खुची सरकारी नौकरियाँ भी समाप्त हो रही हैं। ऐसे में, जब सरकारी नौकरियाँ ही नाम-मात्र की हैं, तो आरक्षण का कोई विशेष लाभ दलित व पिछड़ों की आबादी को भी नहीं मिल पा रहा है। यही कारण है कि दलितों में भी बेरोज़गारी दर उसी प्रकार भयंकर है। हाल ही में, महाराष्ट्र सार्वजनिक सेवा आयोग ने 5 पोर्टरों की भर्ती के लिए आवेदन निकाले जिनमें शैक्षणिक योग्यता चौथी कक्षा पास थी। इसके लिए 2500 आवेदन प्राप्त हुए जिनमें से 250 पोस्टग्रेजुएट थे और 1000 से भी ज़्यादा ग्रेजुएट थे! इससे बेरोज़गारी की एक तस्वीर मिलती है।

दलित उत्पीड़न रोधी क़ानून को हटाने की माँग भी आधारहीन है। महाराष्ट्र में दलित व आदिवासी आबादी का हिस्सा 19 प्रतिशत है।

(पेज 6 पर जारी)

नोटबन्दी के विरोध में बिगुल मज़दूर दस्ता और जनसंगठनों का भण्डाफोड़ अभियान

मोदी सरकार की नोटबन्दी का सख्त विरोध करते हुए बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, जागरूक नागरिक मंच, स्त्री मज़दूर संगठन और अन्य जनसंगठन देश के विभिन्न इलाक़ों में प्रचार अभियान चलाकर लोगों को इस घोर जनविरोधी फ़ैसले की असलियत से वाकिफ़ करा रहे हैं।

लुधियाना

लुधियाना में बिगुल मज़दूर दस्ता, टेक्सटाइल-हौज़री कामगार यूनियन ने सरकार के इस घोर जनविरोधी कदम के खिलाफ़ प्रचार अभियान चलाया। इस दौरान बड़ी संख्या में पर्चे वितरित किये गये। घर-घर प्रचार किया गया। विभिन्न इलाकों में नुक्कड़ सभाएँ की गई। पैदल मार्च भी आयोजित किया गया। 27 नवम्बर को मज़दूर लाइब्रेरी, ताजपुर रोड, लुधियाना में इस मुद्दे पर विचार चर्चा का आयोजन किया गया। इन संगठनों का कहना है कि मोदी सरकार ने नोटबन्दी भले ही काले धन के खात्मे के बहाने की है लेकिन इसके साथ न तो काला धन खत्म होगा और ना ही सरकार का इस तरह का कोई इरादा है। सरकार भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई का भ्रम पैदा करके जनता की आँखों में धूल झोंकना चाहती है।

पहले ही लुधियाना में चिकनगुनिया, डेंगू और वायरल जैसी बीमारियों के कारण ग़रीब आबादी बहुत ज़्यादा परेशान थी। इसी दौरान नोटबन्दी ने उसकी मुसीबतें कई गुना बढ़ा दीं। जनता के पास दो वक्त की रोटी, दवाई-इलाज जैसी बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी पैसा नहीं है। कारोबार ठप्प होने की वजह से बड़ी संख्या में मज़दूर बेरोज़गार-अर्ध बेरोज़गार हो गए हैं। छोटे- मोटे काम धन्धे करने वालों की भी बेहद बुरी हालत हो गई है। बैंकों और ए.टी.एम मशीनों के आगे कई-कई दिन कतारों में खड़े होने के बाद भी पैसा नहीं मिल रहा। कोई कालेधन वाला इन कतारों में नज़र नहीं आया। वे तरह-तरह के तरीकों से कालाधन सफ़ेद करने में कामयाब हो रहे हैं।

जिसे सरकार काला धन कह रही है वह तो कुल काले धन एक छोटा सा हिस्सा है। पूँजीपति वर्ग के पास पड़ी सारी दौलत ही असल में काला धन है। सरकार के मुताबिक अगर कुछ टैक्स दे दिया जाये तो लूट का माल (वास्तविक तौर पर काला धन) सफेद बन जाता है। इसलिए संगठनों का मानना है कि मोदी सरकार काले धन के खिलाफ एक नकली लड़ाई लड़ रही है। इस प्रचार अभियान के शुरू में ऐसे आम लोगों की ठीक-ठाक संख्या थी जो नोटबन्दी को मोदी सरकार के काले धन के खिलाफ लड़ाई मानते हुए समर्थन कर रहे थे। लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतते गये जनता के सामने मोदी सरकार की नौटंकी का पर्दाफाश होता गया। अब कोई इक्का-दुक्का लोग ही नोटबन्दी का समर्थन करते मिलते हैं। जनवादी-क्रान्तिकारी ताकतों द्वारा नोटबन्दी के खिलाफ भण्डाफोड़ के चलते और अपने अनुभव से लोग यह हकीकत समझने लगे हैं कि **मोदी की "सर्जिकल स्ट्राईक" असल में जोंकों पर नहीं बल्कि लोगों पर है।**

नोटबन्दी के खिलाफ रोषपूर्ण प्रदर्शन

28 नवम्बर को बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, इंकलाबी केन्द्र पंजाब, जमहूरी अधिकार सभा, मोल्डर एण्ड स्टील वर्कर्ज यूनियन, अजाद हिन्द निर्माण मज़दूर यूनियन द्वारा लुधियाना में रोषपूर्ण प्रदर्शन किया गया। शहीद करतार सिंह सराभा पार्क में रैली की गई और इसके बाद भारत नगर चौक तक पैदल मार्च किया गया।

वक्ताओं ने कहा कि काले धन के खात्मे के नाम पर नोटबन्दी मोदी सरकार का महानौटंकी है। न तो काले धन का खात्मा मोदी सरकार का मकसद ही है और न ही नोटबन्दी से कालाधन खत्म हो सकता है।

प्रदर्शन को बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से राजविन्दर, इंकलाबी केन्द्र पंजाब की ओर से कंवलजीत खन्ना, नौजवान भारत सभा की ओर से ऋषि, जमहूरी अधिकार सभा की ओर से ए.के. मलेरी, आज़ाद हिन्द निर्माण मज़दूर यूनियन की ओर से हरी साहनी, मोल्डर एंड स्टील वर्कर्ज़ यूनियन की ओर से विजय नारायण आदि ने संबोधित किया।

दिल्ली

दिल्ली के वज़ीरपुर में नौजवान भारत सभा द्वारा नोटबंदी के विषय पर परिचर्चा का आयोजन किया जिसमे इलाके के युवा नौजवानों ने हिस्सेदारी की। नोटबंदी के बाद आम जनता की ज़िन्दगी पर हो रहे असर और पहले से ही कम रोज़गार के अवसरों के और कम हो जाने के कारण परेशानियां झेल रही मेहनतकश आबादी के सामने अपने जीवनयापन की जद्दोजेहद से जुडी समस्याओं के बारे में बातचीत की गयी। नौजवान भारत सभा द्वारा करावल नगर, दिल्ली में एक विचार-विमर्श चक्र रखा गया; जिसका विषय था–**नोटबंदी, काला धन और सोचने के लिए कुछ सवाल**। इस

विमर्श में इलाके के छात्र-छात्राएं, नागरिक और मज़दूर शामिल हुए। वज़ीरपुर, करावलगनर, खजूरी आदि इलाकों में नोटबन्दी के विरोध में लगातार अभियान चलाकर पर्चे बाँटे जा रहे हैं।

पटना

पटना के गोसाई टोला इलाके में नौजवान भारत सभा द्वारा मोदी सरकार की नोटबंदी की नौटंकी की असलियत पर लोगों के बीच सभा की गयी व पर्चे बांटे गए| लोगों को बताया गया कि कैसे मोदी सरकार हर मोर्चे पर फैल होने के बाद अब नोटबन्दी के माध्यम से काले धन पर चोट करने की नौटंकी कर रही है| अंत में लोगों ने सरकार के इस फैसले के खिलाफ़ विरोध दर्ज कराते हुए मोदी का पुतला दहन किया |

सिरसा

नौजवान भारत सभा (जिला-सिरसा, हरियाणा) द्वारा पिछले एक महीने से नोटबंदी के विरुद्ध अभियान चलाया जा रहा है, इस अभियान के तहत रानियाँ, नकोड़ा, हरिपुरा, कुस्सर, दमदमा, भड़ोलियांवाली, केहरवाला, संतनगर आदि गाँवों व शहरों में नारे लगाते हुए मार्च किया गया, घर-घर जाकर परचा बाँटा गया, बैंकों के सामने यहाँ लोग आधी-आधी रात से खड़े हुए थे वहाँ परचा बांटा गया व सभाएँ की गई, स्कूलों में जाकर परचा बाँटा गया। इस अभियान के तहत हुई सभाओं में नौभास के साथियों ने संबोधित करते हुए कहा कि सरकार गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, सेहत व शिक्षा जैसे मुद्दों से लोगों का ध्यान हटाने और अपनी नाकामी छुपाने के लिए कोई न कोई जुमला छोड़ती रहती है। कभी लव-जिहाद, गौ-रक्षा, सर्जिकल-स्ट्राइक और अब नोटबंदी! हमारी सभी समस्याओं व भ्रष्टाचार का हल नोटबंदी से नहीं बल्कि शोषण व अन्याय पर टिके इस प्रबंध को बदलकर ही हो सकता है। इस अभियान के तहत नौजवान भारत सभा द्वारा इसके मुकाबले के लिए जन-एकता कायम करते हुए लोगों को संगठित होने का आह्वान किया गया।

लखनऊ

'नोटबन्दी की पोल खोल - कॉरपोरेट परस्त फ़ासिस्ट मोदी सरकार पे हल्ला बोल' अभियान के तहत नौजवान भारत सभा द्वारा लखनऊ शहर के अलग-अलग इलाकों में प्रचार अभियान चलाया गया। अभियान टोली ने शहर के अनेक मुहल्लों, चौराहों और बाज़ारों में लोगों के बीच छोटी-छोटी सभाएँ करते हुए हज़ारों की संख्या में पर्चे बाँटे। नमो ऐप के फ़र्ज़ी सर्वे के बरक्स उन्होंने जगह-जगह लोगों से सीधे उनकी राय पूछी और हर जगह आम लोगों ने मोदी सरकार को जमकर खरी-खोटी सुनाई। सभी जगह लोगों ने खुलकर कहा कि जिन अमीरों के पास काला धन है उन पर कोई मार नहीं पड़ रही है, या वे अपना पैसा बचाने का कोई इंतज़ाम कर ही ले रहे हैं लेकिन ग़रीब लोग बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने के लिए भी मोहताज हो गये हैं।

मुम्बई

मानखुर्द, शिवाजीनगर मुंबई का वो इलाका है जहां ज्यादातर मज़दूर आबादी रहती है। ठेका, दिहाड़ी मज़दूर हो या छोटी-मोटी रेहड़ी पटरी लगाकर अपना पेट पालने वाली निम्नमध्यमवर्गीय आबादी, सबका काम इस नोटबन्दी के बाद से या तो बन्द है या बुरी तरह प्रभावित है। इलाज के अभाव में इलाके में दो बच्चों की मौत भी हो चुकी है। मज़दूरों को या तो काम नहीं मिल पा रहा है या फिर उनके मालिक पूराने 500 के नोटों में भुगतान कर रहे हैं। अगर मज़दूर दूसरे दिन उसे बदलवाने के लिए लाइन में लगेगा तो उसकी पूरी दिहाड़ी चली जायेगी। कमीशन पर नोट बदलने का धंधा भी अब जोरों पर है। 500 का नोट 400 में बदला जा रहा है। इसकी भी सबसे भयंकर मार मज़दूरों पर ही पड़ रही है। बहुत सारे लोगों के घर में एक ही समय खाना बन पा रहा है।

इसी को लेकर नौजवान भारत सभा व बिगुल मजदूर दस्ता, महाराष्ट्र ने पिछले कई दिनों से इलाके में लगातार नुक्कड़ सभाएँ की व इस नोटबन्दी के पीछे की असलियत को उजागर करने वाले पर्चों का वितरण किया। पूरे इलाके में मार्च निकाला गया। जगह जगह सभाएँ करते हुए इलाके के विधायक के दफ्तर के बाहर नरेन्द्र मोदी का पुतला दहन किया गया व साथ ही मुख्यमंत्री व प्रधानमंत्री के नाम एक ज्ञापन भी विधायक को सौंपा गया। साथ ही विधायक से माँग की गयी कि जब तक मोदी सरकार कुछ कदम नहीं उठाती तब तक विधायक को अपने स्तर पर लोगों की तकलीफ दूर करनी चाहिए। उन्हें वहां मेडिकल वैन लगानी चाहिए ताकि इलाज के अभाव में किसी की मौत ना हो। विधायक ने इस मांग को माना व मेडिकल वैन लगाना शुरू करने का वायदा किया है।

नौभास के नारायण ने बात रखते हुए कहा कि ये सिर्फ एक तात्कालिक राहत है। हमें इस नोटबंदी के जनविरोधी निर्णय के खिलाफ ज्यादा से ज्यादा लोगों को संगठित करना होगा ताकि पूरे देश में मेहनतकशों पर टूट रहे कहर को रोका जा सके।

अहमदनगर

अहमदनगर, महाराष्ट्र में नोटबन्दी के विरुद्ध कई इलाकों में अभियान चलाया गया। अभियान के दौरान मोदी सरकार की बड़े पूँजीपतियों के पक्ष की नीतियों का पर्दाफाश किया गया व पर्चे के माध्यम से बताया गया कि कैसे मोदी सरकार हर मोर्चे पर फैल होने के बाद अब नोटबन्दी के माध्यम से काले धन पर चोट करने की नौटंकी कर रही है। हकीकत ये है कि असली काला धन रखने वालों के विरूद्ध सरकार ना तो जांच कर रही है और ना कोई कार्रवाई। जनता से गद्दारी करते हुए बड़े बड़े उद्योगपतियों के पुराने कर्जे माफ किये जा रहे हैं व नये कर्जे मंजूर किये जा रहे हैं। ऐसे में आम जनता को इस नोटबन्दी की नौटंकी की असलियत समझनी होगी।

पूर्वी उत्तर प्रदेश

नोटबन्दी की नौटंकी के ख़िलाफ़ चलाये जा रहे प्रचार अभियान के तहत गोरखपुर शहर में साईकिल मार्च निकाला गया। इलाहाबाद, मऊ, अम्बेडकरनगर के विभिन्न इलाकों में पैदल व साइकिल मार्च निकालते हुए सभाएँ की गयीं और पर्चे बाँटे गये। इलाहाबाद में नोटबन्दी के सवाल पर परिचर्चा आयोजित की गयी जिसमें छात्र-छात्राओं के बीच इस मुद्दे पर मौजूद विभिन्न सवालों पर विस्तार से बातचीत की गयी।

ग़ाज़ियाबाद

नोटबन्दी की नौटंकी के ख़िलाफ़ गाज़ियाबाद के विजयनगर क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों में प्रचार अभियान चलाया गया एवं पर्चा वितरण किया गया। नागरिकों ने नौजवानों के इस प्रयास की तारीफ की और कहा कि कम से कम कोई तो नोटबंदी के फैसले से आम जनता की तकलीफो के बारे में बता रहा है, नहीं तो सारी पार्टियां और ज्यादातर मीडिया मोदी के सुर में सुर मिला रही हैं। यह भी देखने में आया कि जनता के निम्न मध्य वर्ग का काफी बड़ा हिस्सा संघी फासिस्टों द्वारा फैलायी गई अफवाहों और सरकार के भ्रामक प्रचार के प्रभाव में है। लोगों के सवालों पर प्रचार टोली ने उन्हें तर्कों और आँकड़ों सहित असलियत समझायी।

– बिगुल संवाददाता

फासीवाद की बुनियादी समझ बनायें और आगे बढ़कर अपनी ज़िम्मेदारी निभायें

नरेन्द्र मोदी के सत्ता में आने के बाद से देश में फासीवादी ताक़तों को अभूतपूर्व बढ़त मिली है और सत्ता व समाज के हर क्षेत्र में उनका उत्पात बढ़ता जा रहा है। संसदीय वामपंथियों में अभी यही यही बहस चल रही है कि इन्हें फासीवाद कहा जाये या नहीं—हालाँकि इस बहस का कुल मक़सद बस यही तय करना है कि फासीवाद से लड़ने के नाम पर फिर से कांग्रेस का दुमछल्ला बनने का समय आ गया है या नहीं! मगर फासीवादियों का विरोध करने वाले बहुत से बुद्धिजीवियों और अनेक क्रान्तिकारी संगठनों के बीच भी फासीवाद को लेकर कई तरह के विभ्रम मौजूद हैं। मज़दूर बिगुल के पाठकों से भी अक्सर फासीवाद को लेकर कई तरह के सवाल हमें मिलते रहते हैं। इसीलिए, हम यहाँ **कविता कृष्पल्लवी** का यह नोट प्रकाशित कर रहे हैं। हालाँकि इसे मोदी सरकार बनने के पहले लिखा गया था लेकिन इसकी प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी है। आज नोटबन्दी के फ़ैसले के बाद जनता में फैले रोष को देखकर कुछ लोग इस ख़ुशफ़हमी में हैं कि मोदी सरकार ने 'सेल्फ़ गोल' कर लिया है। अब उन्हें कुछ करने की ज़रूरत नहीं है, 2019 में जनता ख़ुद ही संघ और भाजपा को सबक़ सिखा देगी। ऐसे लोगों को भी इस टिप्पणी को ज़रूर पढ़ना चाहिए और यह समझना चाहिए कि फासीवाद एक सामाजिक आन्दोलन है जिसने भारतीय समाज में गहरे जड़ें जमा ली हैं। इसके महज़ चुनावों में हराकर परास्त और नेस्तनाबूद नहीं किया जा सकता। — **सम्पादक**

(1) फासीवाद सड़ता हुआ पूँजीवाद है (लेनिन)। यह वित्तीय पूँजी के आर्थिक हितों की सर्वाधिक प्रतिक्रियावादी राजनीतिक अभिव्यक्ति होती है।

(2) फासीवाद कई बेमेल तत्वों से बना एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है। बड़े वित्तीय-औद्योगिक पूँजीपतियों के एक हिस्से के अलावा व्यापारी वर्ग और कुलकों का एक हिस्सा भी इसका समर्थन करता है। उच्च मध्यवर्ग का एक हिस्सा भी इसका समर्थन करता है।

(3) फासीवाद पूँजीवादी व्यवस्था में परेशानहाल मध्यवर्ग के पीले-बीमार चेहरे वाले युवाओं को लोकलुभावन नारे देकर और "गढ़े गये" शत्रु के विरुद्ध उन्माद पैदा करके उन्हें अपने साथ गोलबन्द करता है। बेरोज़गार-अर्द्धबेरोज़गार असंगठित युवा मज़दूर, जो विमानवीकरण और लम्पटीकरण के शिकार होते हैं, फासीवाद उनके बीच से अपनी गुण्डा वाहिनियों में भरती करता है।

(4) फासीवाद घोर पुरुषस्वामित्ववादी और स्त्री-विरोधी होता है। शुरू से किया जाने वाला स्त्री-विरोधी मानसिक अनुकूलन फासीवादी कार्यर्ताओं को प्राय: सदाचार के छद्म वेष में मनोरोगी और दमित यौनग्रंथियों का शिकार बना देता है।

(5) फासीवाद एक कैडर-आधारित प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन होता है, जो समाज में तृणमूल स्तर पर काम करता है। वह हमेशा कई संगठन और मोर्चे बनाकर काम करता है। हर जगह उसकी कई प्रकार की गुण्डावाहिनियाँ होती हैं। बुर्जुआ जनवाद में संसदीय चुनाव लड़ने वाली पार्टी उसका महज़ एक मोर्चा होती है।

(6) फासीवाद हमेशा उग्र अन्धराष्ट्रवादी नारे देता है। वह हमेशा संस्कृति का लबादा ओढ़कर आता है, संस्कृति का मुख्य घटक धर्म या नस्ल को बताता है और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा देता है। इस तरह देश विशेष में बहुसंख्यक धर्म या नस्ल का "राष्ट्रवाद" ही मान्य हो जाता है और धार्मिक या नस्ली अल्पसंख्यक स्वत: "पराये" या "बाहरी" हो जाते हैं। इस धारणा को और अधिक पुष्ट करने के लिए फासीवादी इतिहास को तोड़-मरोड़ते हैं, मिथकों को ऐतिहासिक यथार्थ बताते हैं और ऐतिहासिक यथार्थ का मिथकीकरण करते हैं।

(7) फासीवाद धार्मिक या नस्ली अल्पसंख्यकों को निशाना बनाने के लिए संस्कृति और इतिहास का विकृतिकरण करने के लिए तृणमूल प्रचार के विविध रूपों के साथ शिक्षा का कुशल और व्यवस्थित इस्तेमाल करते हैं। धार्मिक प्रतिष्ठानों का भी वे खूब इस्तेमाल करते हैं।

(8) फासीवादी व्यवस्थित ढंग से सेना-पुलिस-नौकरशाही में अपने लोगों को घुसाते हैं और इनमें पहले से ही मौजूद दक्षिणपंथी विचार के लोगों को चुनकर अपने प्रभाव में लेते हैं।

(9) अपनी पत्र-पत्रिकाओं से भी अधिक फासीवादी मुख्य धारा की बुर्जुआ मीडिया का इस्तेमाल कर लेते हैं। इसके लिए वे मीडिया प्रतिष्ठानों में योजनाबद्ध ढंग से अपने लोग घुसाते हैं और तमाम दक्षिणपंथी बुद्धिजीवियों की शिनाख़्त करके उनका इस्तेमाल करते हैं।

(10) फासीवादी केवल इतिहास का ही विकृतिकरण नहीं करते, आम तौर पर वे अपनी हितपूर्ति के लिए किसी भी मामले में सफ़ेद झूठ को भी सच बनाकर पेश करते हैं। सभी फासीवादी गोयबेल्स के इस सूत्र वाक्य को अपनाते हैं, 'एक झूठ को सौ बार दुहराओ, वह सच लगने लगेगा।'

(11) फासीवादी हमेशा, अंदर-ही-अंदर शुरू से ही, कम्युनिस्टों को अपना मुख्य शत्रु समझते हैं और उचित अवसर मिलते ही चुन-चुनकर उनका सफाया करते हैं, वामपंथी लेखकों-कलाकारों तक को नहीं बख्शते। इतिहास में हमेशा ऐसा ही हुआ है। फासीवादियों को लेकर भ्रम में रहने वाले, नरमी या लापरवाही बरतने वाले कम्युनिस्टों को इतिहास में हमेशा क़ीमत चुकानी पड़ी है। फासीवादियों ने तो सत्ता-सुदृढ़ीकरण के बाद संसदीय कम्युनिस्टों और सामाजिक जनवादियों को भी नहीं बख्शा।

(12) आज के फासीवादी हिटलर की तरह यहूदियों के सफ़ाये के बारे में नहीं सोचते। वे दंगों और राज्य-प्रायोजित नरसंहारों से आतंक पैदा करके धार्मिक अल्पसंख्यकों को ऐसा दोयम दर्ज़े का नागरिक बना देना चाहते हैं, जिनके लिए क़ानून और जनवादी अधिकारों का कोई मतलब ही न रह जाये, वे निकृष्टतम श्रेणी के उजरती ग़ुलाम बन जायें और सस्ती से सस्ती दरों पर उनकी श्रमशक्ति निचोड़ी जा सके। साथ ही मज़दूर वर्ग के भीतर पैदा हुए धार्मिक अलगाव की वजह से मज़दूर आन्दोलन बँटकर कमज़ोर हो जाये और उसे तोड़ना आसान हो जाये।

(13) फासीवादी गुण्डे हर देश में हड़तालों को तोड़ने में अहम भूमिका निभाते रहे हैं। जहाँ भी वे सत्ता में आये, कम्युनिस्टों के सफाये के साथ मज़दूर आन्दोलन का बर्बर दमन किया।

(14) अतीत से सबक लेकर आज का पूँजीपति वर्ग फासीवाद का अपनी हितपूर्ति के लिए "नियंत्रित" इस्तेमाल करना चाहता है, जंज़ीर से बँधे कुत्ते की तरह, पर यह खूँख्वार कुत्ता जंज़ीर छुड़ा भी सकता है और उतना उत्पात मचा सकता है, जितना पूँजीपति वर्ग की चाहत कत्तई न हो। फासीवाद ही नवउदारवाद की नीतियों को डण्डे के ज़ोर से लागू कर सकता है, अत: संकटग्रस्त पूँजीवाद इस विकल्प को चुनने के बारे में सोच रहा है।

(15) यदि हमारे भीतर थोड़ा भी इतिहास बोध हो तो यह बात भली-भाँति समझ लेनी होगी कि फासीवाद से लड़ने का सवाल चुनावी जीत-हार का सवाल नहीं है। इस धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलन का मुक़ाबला केवल एक जुझारू क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन ही कर सकता है।

इन बातों से जो साथी सहमत हैं, वे इसका व्यापक प्रचार करें और स्वयं भी फासीवाद-विरोधी मुहिम से सक्रिय भागीदारी के बारे में सोचें।

मसखरा सिंहासन पर बैठा
तरह-तरह के करतब दिखाता है
दरबारी हँसते हैं तालियाँ पीट-पीटकर
और डरे हुए भद्र नागरिक उनका साथ देते हैं।
वे जानते हैं, मसखरा एक हत्यारा है
और दरबार में ख़ून के चहबच्चों के ऊपर
बिछी हुई है लाल कालीन।
मसखरे का सबसे प्रिय शगल है
सड़कों पर युगपुरुष बनकर निकलने का स्वांग रचना
विशाल भव्य मंचों से अच्छे दिनों की घोषणा करना
जिन्हें सुनकर सम्मोहित भीड़ नारे लगाने लगती है
सदगृहस्थ भले लोग डर जाते हैं
सयाने अपनी हिफ़ाज़त की जुगत भिड़ाने लगते हैं
और विवेकवान लोग चिन्तापूर्वक आने वाले दिनों की
तबाहियों के बारे में सोचने लगते हैं।
सदियों पहले जो बर्बर हमलावर बनकर आये थे
वे अतिथि बनकर आ रहे हैं
मसखरे ने ऐसा जादू चलाया है।
मसखरा अपने मामूली से महान बनने के
अगणित संस्मरण सुनाता है
वह चाँद को तिलस्मी रस्सी फेंककर
धरती पर खींच लाने के दावे करता है।
मसखरा शब्दों से खेलता है
और अलंकार-वैचित्र्य की झड़ी लगाता है।
शब्द हों या परिधान, या लूट और दमन के विधान
या सामूहिक नरसंहार रचने के लिए
विकसित किया गया संकेत विज्ञान
मसखरा सबकुछ सुगढ़-परिष्कृत ढंग से करता है
और क्रूरता का नया सौन्दर्यशास्त्र रचता है।
सर्कस का मालिक बन बैठा है मसखरा,
जनमत उसके साथ है
ऐसा बताने के गणितीय तर्क हैं उसके पास।
फिर भी व्यग्र-उद्विग्न है मसखरा।
दुर्ग-नगर सरीखे इस विशाल बन्द सर्कस पण्डाल के बाहर
अभी निचाट सन्नाटा है, चिलकती धूप है
और यहाँ-वहाँ उठते कुछ धूल के बगूले हैं।
मसखरा रहस्यमय सन्नाटे को नहीं समझता।
मसखरा बच्चे की उस हँसी तक को
बर्दाश्त नहीं कर पाता जिसमें विवशता नहीं होती,
भय नहीं होता।
तमाम आश्वस्तियों के बावजूद
अतीत के प्रेत सताते रहते हैं मसखरे को।
वह डरा रहता है।

— कविता कृष्णपल्लवी

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2014-2016
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प की जीत का मतलब क्या है?

– शिवार्थ

बॉलीवुडिया और हॉलीवुडिया फिल्में देख कर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि अमेरिका और यूरोप के फ्रांस, इंग्लैंड जैसे उन्नत देशों में राजनीति और आम जनजीवन में उतनी घोटालेबाज़ी, धनलोलुपता और नंगई नहीं है जितनी कि हमारे देश में है। लेकिन नवउदारवादी नीतियों के पिछले पच्चीस-तीस सालों में पूँजीवादी पतनशीलता ने तीसरी दुनिया के देशों के अलावा अमेरिका और यूरोप के देशों में भी नंगई के ऐसे नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं कि वे अब इस क्षेत्र में भी हमारे देश के नेता-मंत्रियों को राह दिखा रहे हैं। अमेरिका में नव-निर्वाचित राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प इस नंग नीति का नया झण्डाबरदार है! ट्रम्प कोई ज़मीनी स्तर से राजनीति करता हुआ राष्ट्रपति पद तक नही पहुँचा है, बल्कि कुछ अजीब परिस्थियों में आकस्मिक तरीके से राष्ट्रपति बन गया है। ज्यादातर विश्लेषकों का मानना था कि विभिन्न राज्यों मे होने वाले प्राथमिक चुनावों में ही हार कर ट्रम्प बाहर हो जायेगा। चुनावी भाषणों और अन्य खुलासों के पहले भी उसकी छवि एक अय्याश किस्म के अरबपति की थी जो काफी हद तक मसखरा माना जाता था। यहाँ तक कि रिपब्लिकन पार्टी के ही काफी लोगों ने चुनावी प्रक्रिया शुरू होने के बहुत देर बाद नवम्बर के शुरुआती दिनों में ही जाकर ट्रम्प को उम्मीदवार के तौर पर स्वीकार किया।

राष्ट्रपति उर्फ़ खरबपति डोनाल्ड ट्रम्प

ट्रम्प कोई भी सामान्य दक्षिणपंथी नहीं है। जॉर्ज बुश जो बिल क्लिंटन के बाद अमेरिका का राष्ट्रपति बना वह भी एक प्रतिक्रियावादी पार्टी (रिपब्लिकन पार्टी) का एक प्रतिक्रियावादी नेता था। थोड़े बहुत अन्तर के साथ अमेरिकी राजनीति में मौजूद दूसरी प्रतिक्रियावादी पार्टी, डेमोक्रेटिक पार्टी से 2008 में चुनकर आया पहला अमेरिकी-अफ्रीकी राष्ट्रपति बराक ओबामा भी एक प्रतिक्रियावादी शासक था। लेकिन 'ट्रम्प' इन दोनों से ही अलग है। डोनाल्ड ट्रम्प, बिल क्लिंटन या बराक ओबामा जैसा कोई पेशेवर राजनीतिज्ञ नहीं है। वह अमेरिका के खरबपतियों में से एक है जिसकी पूँजी रियल-एस्टेट, शेयर-बाज़ार से लेकर कई उद्योगों में लगी है। 1971 में न्यूयॉर्क शहर में अपने पिता से प्राप्त रियल-एस्टेट व्यापर के साथ उसने अपने व्यवसाय की शुरआत की। 1973 में अपनी कम्पनी द्वारा बनाये घरों की बिक्री में और किरायदारों के साथ नस्ली आधार पर भेदभाव करने के लिए सरकार ने उसके ख़िलाफ़ मुक़दमा दायर किया जिससे बाद में वह बरी हो गया। इसके बाद उसने अपने व्यापार का विस्तार करते हुए ग्रैंड हयात नामक होटल खड़ा किया और अपने भाई के साथ मिलकर जुए के कारोबार की शुरुआत की। उसने ताज महल नाम से दुनिया का सबसे बड़े होटल और कैसिनो बनाना शुरू किया लेकिन 1990 तक उसकी कम्पनी और वह स्वयं दिवालिया होने की कगार तक आ गये। फिर दस साल बाद उसके रियल-एस्टेट व्यापार में दोबारा तेज़ी आई और उसी दौरान उसने पहली बार रिपब्लिकन उम्मीदवार के तौर पर अमेरिका के राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ने का मन बनाया। लेकिन कैलिफ़ोर्निया के प्रारम्भिक चुनाव में बुरी तरह हारने के कारण उसे पीछे हटना पड़ा। इसी के बाद, अपने पैसे और मीडिया एवं फिल्म जगत के लोगों से करीबी के दम पर उसने 2004 में 'द अप्रेंटिस' नामक एक रियलिटी टीवी शो में पैसा लगाया। इस शो में विभिन्न प्रतिभागी 'ट्रम्प आर्गनाईज़ेशन' का सदस्य बनने के लिए आपस में होड़ करते थे। इस शो में ट्रम्प द्वारा इन कलाकारों को बुरी तरह ज़लील करना उसके स्टाइल के तौर पर प्रस्तुत किया गया। लेकिन इसी रियलिटी टीवी शो से ट्रम्प को देश में ज़बरदस्त लोकप्रियता हासिल हुई और 2012 आते-आते उसने दोबारा रिपब्लिकन उम्मीदवार के तौर पर अमेरिकी राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ने के लिए तैयारी शुरू कर दी। अन्ततः 2016 में वह चुनाव लड़ा और जीत भी गया। परन्तु इस जीत का कारण अगर हम सिर्फ ट्रम्प के व्यक्तिगत अतीत में ढूँढ़ेंगे तो हम ग़लत नतीजों पर पहुँचेंगे। व्यक्तियों को इतिहास बनाता है न कि इतिहास को कोई अकेला व्यक्ति! ऐसा कैसे हुआ कि ट्रम्प जैसा व्यक्तित्व दुनिया की महाशक्ति अमेरिका का राष्ट्रपति बन गया? यह समझने के लिए हमें इतिहास की उन शक्तियों को समझना होगा जो ट्रम्प जैसी कठपुलियों को संचालित करती हैं। ट्रम्प की जीत को समझने के लिए अमरीकी राजनीति के अन्तर्विरोधों की पड़ताल कनी होगी। वे आर्थिक व राजनितिक कारण क्या हैं जिन्होंने ट्रम्प सरीखे मसखरे को अमरीकी चुनाव में विजय दिलायी?

वैश्विक आर्थिक मन्दी और दुनिया भर में प्रतिक्रियावादी राजनीति का उदय

आज सिर्फ अमेरिका ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में धुर प्रतिक्रियावादी और दक्षिणपंथी राजनीति का उभार हो रहा है और कई देशों ऐसी ताक़तें सत्ता में भी आ रही हैं। दरअसल पूँजीवादी व्यवस्था का के आर्थिक संकट की राजनीतिक अभिव्यक्ति इन प्रतिक्रियावादी सरकारों के रूप में हो रही है। डोनाल्ड ट्रम्प जैसे धुर प्रतिक्रियावादी एवम दक्षिणपंथी व्यक्ति का अमेरिकी राष्ट्रपति के रूप में चुना जाना इसी का एक विशिष्ट उदहारण है। पिछले एक दशक में यूरोप, ऑस्ट्रेलिया समेत दुनिया के कई उन्नत देशों में, जो आज से तीस-चालीस पहले उदारवादी नेताओं और पार्टियों के लिए जाने जाते थे, धुर दक्षिणपंथी और प्रतिक्रियावादी ताक़तें या तो सत्तासीन हुई हैं या फिर अप्रत्याशित तौर पर उनको जनता के बीच समर्थन प्राप्त हुआ है। मज़दूर बिगुल के पन्नों पर हम समय-समय पर इसकी चर्चा करते रहे हैं। पाठकों को याद होगा कि अभी चार महीने पहले ही, यानी जुलाई में ब्रिटेन की जनता ने वहाँ पर हुए एक जनमतसंग्रह में ब्रिटेन को यूरोपीय संघ से अलग करने के पक्ष में मतदान किया है। इसी को दुनिया भर में 'ब्रेग्ज़िट' के नाम से जाना गया। डोनाल्ड ट्रम्प का राष्ट्रपति बनना भी इसी कड़ी का ही अगला हिस्सा है। इसके केन्द्र में 2006 में अमेरिका में 'सब-प्राइम' संकट से शुरू हुई वैश्विक आर्थिक मन्दी है। लाख पसीना बहाने के बाद और दुनिया भर के नीम-हक़ीमी नुस्खों की झाड़-फूँक करने के बावजूद हर आने वाले साल के साथ यह मन्दी और गहराती हुई नज़र आती है। भूमण्डलीकरण के दौर में पूरी दुनिया के बाज़ारों की ख़ाक छानने के बावजूद पूँजीपतियों को अपने माल के ख़रीदार नहीं मिल रहे हैं। अर्थशास्त्र की भाषा में जिसे "अतिउत्पादन" का संकट कहते है, उसने पूरे पूँजीवादी विश्व को अँधेरी गली के मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया है। मुनाफ़े की घटती दरों को बनाये रखने के लिए एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिकी देशों के मजदूरों का सस्ते से सस्ता श्रम ख़रीदकर उन्हें लगभग भुखमरी और बदहाली की स्थिति तक पहुँचा देने के बाद, अब इस तंगी की मार अमेरिका और यूरोपीय देशों की जनता के निम्न-मध्यम और मध्य वर्गीय संस्तरों तक भी पहुँच रही है ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1950 और 60 के दशक के दौरान विश्व पूँजीवाद ने लम्बे समय बाद ज़बरदस्त उछाल का दौर देखा। इसी के साथ 150 साल से जारी साम्राज्यवादी लूट के बलबूते अमेरिका और पश्चिमी यूरोप के देश की सरकारें अपने यहाँ के मज़दूरों और निम्न-मध्यवर्गीय आबादी को आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य इत्यादि की बेहतर सुविधाएँ दे सकती थीं। यही कारण था कि इस दौरान जहाँ भारत सरीखे तीसरी दुनिया के देशों की ग़रीब जनता दिन-रात खटने के बाद भी बमुश्किल अपने लिए दो जून की रोटी जुटा पा रही थी वहीं पश्चिमी देशों में आबादी का बड़ा हिस्सा अपेक्षतया इन समस्याओं से मुक्त था (हालाँकि इन 'उछाल के दिनों' में भी वहाँ पर ग़रीब देशों से आये प्रवासी मजदूरों का, अश्वेत आबादी के बड़े हिस्से का भयंकर शोषण बदस्तूर जारी था)। 1980 के दशक से शुरू हुए नवउदारवादी भूमण्डलीकरण के दौर में मुनाफ़े की घटती दरों को बनाये रखने के लिए पूँजी सस्ते से सस्ते श्रम की खोज में पूरी दुनिया को रौंद रही थी। अमेरिका और यूरोप की बड़ी कम्पनियों ने अपने कारख़ाने तीसरी दुनिया के देशों में स्थानान्तरित करने शुरू कर दिये जहाँ की सरकारों की मिली-भगत से उन देशों के मज़दूरों के सस्ते श्रम को आसानी से निचोड़ा जा सकता था। इसी की एक बानगी है कि कभी ऑटोमोबाइल उद्योग का केन्द्र माने जाना वाला अमेरिका का डेट्रॉयट शहर आज लगभग उजाड़ हो गया है।

लेकिन पिछली सदी के आखिरी दशक और नई सदी में प्रवेश के साथ एक के बाद एक कई संकटों ने विश्व-पूँजीवाद की कमर तोड़ दी। दरअसल, 1973 के तेल संकट के समय से ही जारी संकटों की श्रृंखला की अगली कड़ी थी, 2006 में अमेरिका में शुरू हुआ सब-प्राइम (यानि ख़राब ऋणों का) संकट जो 1930 की महामन्दी के बाद आज दूसरी वैश्विक पूँजीवादी महामन्दी का रूप ले चुका है। इस संकट के चलते बड़े-बड़े बैंकों के दिवालिया होने की शुरुआत हो गयी जिन्हें अमेरिका और यूरोप के देशों की सरकारों ने अरबों रुपये के बेल-आउट पैकेज देकर बचाया। ऐसे में अब इन उन्नत देशों की पूँजीवादी सरकारों के लिए यह मुमकिन नहीं रह गया कि वह जनता को आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, इत्यादि सुविधाओं का खर्च पहले की तरह उठा सकें। इसी दौरान इन देशों में बेरोज़गारी काफी तेज़ी से बढ़ी और सरकारों की तरफ से दिये जाने वाले बेरोज़गारी भत्ते में भी भारी कटौती की गयी। इन देशों की सरकारें पहले की तरह अपने बजट का एक बड़ा हिस्सा इन सुविधाओं पर खर्च करेंगी तो मुनाफ़े की घटती दर से जूझ रहे बड़े-बड़े पूँजीपति घराने और बैंक सड़क पर आ जायेंगे। इस समस्या को हल करने का एकमात्र तरीका जो इन पूँजीवादी देशों के हुक्मरानों को नज़र आ रहा है, वह यह है कि वे अपना उदारवादी मुखौटा उतार फेंके और जनता के ऊपर इस पूरे संकट का बोझ डाल दें। यही कारण है कि अमेरिका और यूरोप के लगभग सभी देशों में स्वास्थ्य, शिक्षा, पेंशन सहित सामाजिक सुरक्षा के तमाम मदों में भारी कटौती की गयी है जिसके विरोध में वहाँ 'ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट' जैसे आन्दोलन उभरे हैं।

अमेरिका में आर्थिक मन्दी से पैदा हुई प्रतिक्रियावाद की ज़मीन

डोनाल्ड ट्रम्प जैसे धुर प्रतिक्रियावादी व दक्षिणपंथी व्यक्ति का अमेरिकी राष्ट्रपति चुना जाना आर्थिक मन्दी से जन्म ले रहे प्रतिक्रियावाद का एक विशिष्ट उदहारण है। 2006 के बाद से जारी वैश्विक आर्थिक मन्दी ने अमेरिकी सरकार को स्वास्थ्य सेवाओं, शिक्षा और रोज़गार जैसे मदों में किये जाने वाले सरकारी खर्च में भारी कटौती के लिए मजबूर कर दिया। इसके चलते मज़दूर और निम्न-मध्यवर्गीय आबादी भयंकर बदहाली का शिकार है। 2008 में चुनकर आये डेमोक्रैट उम्मीदवार बराक ओबामा से जनता को काफी उम्मीदें थी। लेकिन उसके आठ साल के कार्यकाल ने लोगों के सामने यह स्पष्ट कर दिया अगली सरकार डेमोक्रैट या रिपब्लिकन, किसी की भी हो, इन समस्याओं से उन्हें छुटकारा नहीं दिला सकती। ऐसे में पूँजीवादी व्यवस्था और उसके नेताओं से जनता के इस मोहभंग का इस्तेमाल कोई ऐसी ताक़त कर सकती थी जो उनके समक्ष इस मरणासन्न और मानवद्रोही बन चुकी पूँजीवादी व्यवस्था की कलई खोल कर रख देती और एक क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करती। रिपब्लिकन, डेमोक्रैट या सामाजिक-जनवादी शैली के डेमोक्रैट बर्नी सैंडर्स ऐसा नहीं कर सकते थे, जनता इससे वाकिफ़ थी। क्रान्तिकारी विकल्प प्रस्तुत करने वाली कोई मज़बूत शक्ति अमेरिकी राजनीति में मौजूद है नहीं। ऐसे में ट्रम्प जैसे व्यक्ति ने तरह-तरह के लोकलुभावन नारों और जुमलों के ज़रिए जनता के इस ग़ुस्से का इस्तेमाल अपने पक्ष में कर लिया। यहाँ यह बात ग़ौर करने वाली है कि इस चुनाव में करीब 45 प्रतिशत मतदाताओं ने किसी भी उम्मीदवार को वोट नहीं दिया। यानि ट्रम्प की जीत मुख्य तौर पर जनता की हताशा को दिखलाती है और हताशा हमेशा प्रतिक्रिया की ज़मीन पैदा करती है।

जनता को अगर भविष्य का विकल्प नहीं मिलेगा तो वह उसे अतीत में तलाशेगी और ट्रम्प ने इसी का इस्तेमाल किया। उसने "महान" अमेरिकी राष्ट्र के पुराने दिनों को वापस लाने का नारा दिया। उसने बेरोज़गारी से तंगहाल जनता को यह समझाया कि उसकी इस हालात के ज़िम्मेदार वे प्रवासी हैं जो मेक्सिको और एशिया-अफ्रीका के देशों से आकर उनकी नौकरियाँ खा जाते हैं। इसलिए वह इन प्रवासियों को देश से बाहर कर देगा और उनके आने पर रोक लगा देगा। उसने कहा कि हमारी कम्पनियाँ और पूँजीवादी घराने इसलिए मुनाफ़ा नहीं कमा पाते क्योंकि पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर उन्हें ज़्यादा खर्च करना पड़ता है। इसलिए पर्यावरण सुरक्षा के नियमों को किनारे लगाकर, वह कोयला जैसे उन ऊर्जा स्रोतों का और दोहन करेगा जो बहुत ज़्यादा प्रदूषण करते हैं। पूँजीपतियों को ज्यादा मुनाफ़ा मतलब जनता की बेहतरी! इराक-अफ़ग़ानिस्तान और मध्य-पूर्व में अमेरिकी सैन्य कार्रवाइयों के कारण हुए आर्थिक नुकसान के चलते पिछली सरकारें थोड़ा बचाव की मुद्रा में थीं, मगर ट्रम्प ने ज़्यादा आक्रामक रवैया अपनाते हुए कहा कि अमेरिका को दोबारा महान बनाने के लिए इन्हें और तेज़ करना होगा। अमेरिका को अपनी खोई हुई महानता वापस पाने के लिए दुनिया को डराकर रखना होगा। उसने मुस्लिमों, महिलाओं, अश्वेत नागरिकों, प्रवासियों उन सबको निशाने पर लिया जो अमेरिकी गोरे टुटपुँजिया वर्ग व मज़दूर आबादी के एक हिस्से के पुरुषों के लिए 'पराये' थे। ट्रम्प के अनुसार ये सभी 'पराये' उसकी बदहाली के लिए ज़िम्मेदार हैं, इसलिए इन्हें 'ठीक' करना पड़ेगा। उसने एक बेहद लोकरंजक लेकिन आक्रामक शैली अपनायी जिसने जनता के एक हिस्से में उसकी छवि "निर्णायक और मज़बूत" व्यक्ति की बनायी। टुटपुँजिया वर्ग (जो कि आज अमेरिकी गोरी आबादी का बड़ा हिस्सा है) को एक तारणहार की ज़रूरत होती है और ट्रम्प में उसे इसकी सम्भावना नज़र आयी।

पर डोनाल्ड ट्रम्प फासीवादी नहीं है!

अमेरिका समाज का इतिहास यह बताने के लिए काफी है कि ऐसा

(पेज 4 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006